दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक तुलसीदास पर लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धो का सकलन मात्र है। इस सकलन मे दो अप्रकाशित निवन्ध सगृहीत हैं जो विशेष रूप से लिखवाए गए हैं। डॉ० 'कमलेश' ने तुलसी-साहित्य के आधार पर इनकी जीवनी पर आलोक डालने का प्रयास किया है और श्री मोहन राकेश ने तुलसी-सम्बन्धी प्रचलित धारणाओ का मूल्याकन किया है। रूसी के हिन्दी विशेषज्ञ प्रो० वारान्निकोव का तुलसी के दार्शनिक विचारो पर निबन्ध, जिसका हिन्दी रूपातर डॉ० केसरीनारायण ने किया है, एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है। इस प्रकार तुलसी-सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य को, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इस पुस्तक मे एकत्र किया गया है।

—*इन्द्रनाथ मदान*

निबन्ध-सूची

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

१

तुलसीदास : एक सर्वेक्षण

पन्द्रहवी, सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी का समय, जिसे हमारे साहित्य के इतिहास मे भक्ति-काल कहा जाता है, साहित्य की दृष्टि से भले ही स्वर्णयुग हो, लेकिन राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से पूर्ण पराजय का काल था। शक्ति के अभाव मे एक विदेशी जाति की सभ्यता और सस्कृति के प्रति हिंदुओ के आत्मसमर्पण का परिणाम यह हुआ था कि हिंदू-धर्म, हिन्दू-जाति, हिन्दू-सस्कृति और हिन्दू-सभ्यता की रक्षा का कोई साधन शेष नही था। लोगो मे इतना साहस नही था कि वे सगठित होकर खडे हो और धर्म के ऊपर होने हुए कुठाराघात का सामना करे। भक्ति-काल मे शाति के प्रयत्न शासको की ओर से अवश्य किए जा रहे थे, परन्तु वे प्रयत्न पराजित हिन्दू-जाति को सान्त्वना और आश्वासन देने मे असमर्थ थे। हिंदू जले हुए थे, अत जो भी प्रयत्न शासको की ओर से उनकी तुष्टि के लिए किए जाते थे, वे ही उन्हे आशका और भय उत्पन्न करने वाले प्रतीत हो, यह स्वाभाविक ही था। फिर एक वेद-विहित धर्म को अपदस्थ कर वह नई जाति शासक बनी थी और अपने धर्म की जडे अधिकाधिक गहरी करती जाती थी, इससे हिंदुओ मे और भी घृणा का भाव था, जो भीतर ही भीतर गीली लकडी की तरह सुलग रहा था। उस समय देश मे श्मशान की शाति व्याप्त थी। ऐसे निस्तब्ध और भयानक वातावरण मे जन-साधारण के हृदय-कमल मुरझाए हुए थे। यह स्थिति दोनो ही जातियो के लिए हानिकर थी। अतएव कुछ सन्त-महात्माओ ने इसका

अनुभव किया कि अब समझौते का मार्ग ही श्रेयस्कर है। उन्होंने भक्ति की अमृतमयी धारा बहाकर धार्मिक विद्वेष की अग्नि से जलते हुए हृदयों को शीतल किया। इनमें दो प्रकार के भक्त थे। एक तो वे जो सामान्य मानव-धर्म को मानने वाले थे। और दूसरे वे जो भारतीय परम्परा की ओर उन्मुख थे। पहले प्रकार के महात्माओं को हिंदू या मुसलमान दोनों में से किसीके प्रति पक्षपात नहीं था। यद्यपि वे मुसलमान थे तथापि उनमें मानव-मात्र के प्रति प्रेम और सद्भावना थी। वे चाहते थे कि किसी प्रकार यह घृणा और द्वेष की भावना, जो निरन्तर जीवन में कटुता बो रही है, कम हो। इसलिए उन्होंने मानव की वृत्तियों की पवित्रता को श्रेष्ठता का आधार बताया और प्रेम पर अत्यधिक ज़ोर दिया। उन्हें न तो हिंदू-धर्म की रक्षा की चिंता थी न इस्लाम के प्रचार की धुन। वे इन सकीर्ण घेरों में बंधकर नहीं चलते थे। इसका एक कारण यह भी था कि वे महात्मा निम्नवर्ग से आए थे और उन्होंने विशेष शिक्षा-दीक्षा भी प्राप्त नहीं की थी। केवल अपनी आत्मा की निर्मलता और भव्यता पर उन्हें विश्वास था और उसीके बल पर वे ऐसा काम करने चले थे जिसे शासन-सत्ता भी करने में असमर्थ थी। उन्होंने अपने-आपको जनता के साथ मिलाकर और जीवन को आदर्शमय बनाकर मानवता का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। अपनी सचाई के कारण दोनों जातियों में वे प्रतिष्ठित भी हुए और दोनों धर्मों की सामान्य बातें लेकर एक नए धर्म का निर्माण किया, जिसमें ईश्वर का स्वरूप हिंदुत्व और इस्लाम दोनों से भिन्न था। उन्होंने मुसलमान होते हुए भी ऐसा इसलिए किया था कि वे मानव-मात्र के सच्चे हितैषी थे, उनमें इतना साहस न था कि भक्ति में ईश्वर के उस सगुण रूप की स्थापना करते जो अत्याचारियों का नाश करने वाला है, इसलिए उन्हें निर्गुण ईश्वर की सृष्टि करनी पड़ी, जो भक्ति का विषय नहीं बन सका। यही कारण है कि कबीर जैसे उच्च कोटि के महात्मा का क्रांतिकारी व्यक्तित्व अपने समय में ही अधिक प्रकाश कर सका और उनका पन्थ आगे न बढ़ सका। जायसी का प्रभाव तो

कबीर से भी कम रहा। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उन सन्तो की दृष्टि मे धार्मिकता ही हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की जड मे थी। वे सास्कृतिक और सामाजिक धरातल पर उतरकर नही सोच सकते थे। कारण, न तो उनके ऐसे सस्कार थे, न वे उस सस्कृति या समाज के अङ्ग थे जिसका अस्तित्व खतरे म था। एक प्रकार से वे लोग तटस्थ और किसी ग्रश में बहिष्कृत-से थे, जिन्हे सस्कृतहृदय और सस्कृतमस्तिष्क की स्वीकृति नही मिली थी। ग्रत वे तत्कालीन परिस्थितियो मे व्याप्त निराशा को तो दूर कर सके लेकिन आगे बढने के लिए उत्साह न दे सके।

जीवन मे उत्साह का सचार करने मे दूसरे प्रकार के भक्तो को सफलता मिली। ये भक्त पन्थो के प्रवर्तक न होकर भारतीय सस्कृति की रक्षा के लिए धार्मिक आधार पर क्रांति करने वाले वेद-शास्त्रो के पण्डित और तत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा सचालित सम्प्रदायो के स्तम्भ थे। इन सम्प्रदायो मे सन्तमार्ग से तत्त्वत भेद यही था कि ये जिनके द्वारा चलाए गए थे, वे हिंदू-समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति थे और उन्हे समाज ने प्रतिष्ठा दी थी। वल्लभाचार्य और रामानुजाचाय जी ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होने कृष्ण और राम को विष्णु का अवतार बनाकर हिंदू-जनता की सुप्त भावनाओ को जगाया और उनके हृदय म आशा का सचार किया। इनमे भी सूरदास जी ने केवल बालकृष्ण की माधुरी और सुन्दरता के गीत गाए, जिससे जीवन म हर्ष और आनन्द का सन्चार हुआ और जनता भगवत्-लीला के श्रवण, कीतन और स्मरण म डूब गई। परन्तु शिशु के साथ जी बहलाया जा सकता है, क्रीडा की जा सकती है। गम्भीर समस्याओ और समाजोपयोगी कार्यों के लिए उससे प्रेरणा नही ली जा सकती, जो जीवन की सफलता के लिए अतीव आवश्यक है। बालकृष्ण की जो उपासना सूर के द्वारा व्रजभाषा का शृगार करती हुई जनता तक पहुची उसमे जीवन का एकागी दृष्टिकोण था—केवल लोकरजन। भगवान् के लोक रक्षक स्वरूप की स्थापना के लिए अभी अवकाश था।

प्रात स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस कार्य के लिए भगवान् राम

के मर्यादाशील जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाकर, जीवन की व्यापक अभिव्यञ्जना की ओर आदर्श और कर्तव्यों का भक्ति मे इस प्रकार समावेश किया कि हिंदू-धर्म, हिंदू-जाति, हिंदू-सभ्यता और हिंदू-संस्कृति, तात्पर्य यह कि समग्र हिंदुत्व की भावना एकदम सजीव हो उठी। तुलसीदास जी का व्यक्तित्व इतना सर्वग्रासी है कि वे एक ही साहित्य-शिरोमणि, राजनीति-विशारद, धर्म-संस्थापक समाज-सुधारक और युग-निर्माता है। अकेले उन्होंने ही हमारे जीवन की सभी दिशाओं को घेर लिया है और हम आज ही नही, सदैव उनके ऊपर गर्व करते रहेंगे। यदि अंग्रेज शेक्सपियर पर इतना अभिमान करते हैं कि वे उसके लिए अंग्रेजी साम्राज्य को भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भारतीय भी तुलसीदास के ऊपर सर्वस्व निछावर कर सकते हैं। तुलसीदास और भारतीयता पर्याय-वाची शब्द हो गए हैं। उनकी वाणी मे वह ओज, वह प्रभाव और वह प्रेरणा-शक्ति है कि वे हमारे जीवन के कण-कण मे व्याप्त है। राजा से लेकर रङ्क तक और महलो से लेकर झोपडियो तक सर्वत्र राम नाम की शीतल छाया मे हिंदू हृदय अपने जीवन की निराशा, असफलता और सामर्थ्यहीनता खोकर नव-जीवन की अभूतपूर्व शक्ति पाता है, इसका एकमात्र श्रेय उसी महात्मा तुलसीदास को है।

अब हम उन कारणो और परिस्थितियो को भी देखें जिन्होने उस महात्मा के जीवन मे इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने की प्रेरणा दी और उन्हें अपने युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बना दिया। इस सबध मे सब से पहली बात तो यह है कि वे महात्मा शैशवावस्था से ही सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहे थे। माता-पिता ने उनको जन्म के बाद ही छोड दिया था।[1] वे चार चनो को ही चार फल समझते थे।[2] जन्म हुआ उच्चकुल मे हुआ था, लेकिन दरिद्रता के कारण वे अपने को 'मगन' कुल का समझा करते

१—मातु पिता जग जाय तज्यौ विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।

२—बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौं चार फल चार ही चनन कों।

थे।[1] बचपन में ही उन्हें अनाथावस्था का अनुभव हो गया था। उस अवस्था में ही उन्होंने गुरु से रामकथा सुनी थी परन्तु उस समय 'अचेत' होने के कारण उसका महत्त्व नहीं समझ सके थे।[2] उनका जीवन बराबर अस्तव्यस्त बना रहा। वह अस्तव्यस्तता उनकी स्त्री के कारण दूर भी हुई लेकिन कुछ ही दिन के लिए। कारण, उसमें वे बुरी तरह आसक्त थे और क्षण भर को भी उसका वियोग नहीं सह सकते थे। तभी एक बार जब वह अपने पिता के यहां चली गई थी तो वे उसी समय उसके पीछे चले गए थे। उस समय उस नारी की उपदेशमयी वाणी ने तुलसीदास का जीवन ही बदल दिया। बचपन में गुरु से रामकथा सुनने पर चाहे वे अचेत रहे हों लेकिन यौवन-काल में अपनी प्रियतमा की फटकार पाकर उन्हें चेत हो गया।[3] विद्वान् कहते हैं और प्रमाण देते हैं कि उनके काव्य-गुरु और दीक्षा-गुरु नरहरि तथा शेषसनातन थे। हम विद्वानों की बात को महत्त्व न देने की धृष्टता नहीं करते, लेकिन इतना अवश्य कहेंगे कि हमारी दृष्टि में उनकी स्त्री ही उनकी एकमात्र गुरु थी। यदि उसके द्वारा उनको आत्मबोध न हुआ होता, उसके कारण राम-नाम में उनकी रुचि न हुई होती तो तुलसीदास का आज कहीं पता ही न होता। तुलसीदास जी, तुलसीदास बन गए। यह सब उस तपस्विनी नारी की ही कृपा का फल है, जिसने अपने सुख-दुःख की चिन्ता न की और समाज की मर्यादा को भंग करने पर तुलसीदास जी को इस प्रकार बुरा-भला

१—दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जायो कुल मगन बधावनो बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी-जनक को।

२—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

३—लाज न आवत आप को, दौरे आएहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरम मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो कहुं राम में, होति न तो भव-भीति॥

कह दिया। मर्यादावाद की तुलसी मे जो कुछ अधिकता है, उसका सूत्र यही खोजना चाहिए, उसके लिए अन्यत्र भटकना आत्मवचना है और कुछ नहीं।

स्त्री की उपदेशमयी वाणी से चोट खाकर वे महात्मा जीवन भर के लिए विरक्त हो गए। वैराग्य लेकर उन्होंने समस्त तीर्थों और पवित्र पुरियों की खाक छानी। अधिकाश समय अयोध्या, काशी और चित्रकूट मे बिताया और गगा के किनारे बैठकर राम-नाम की साधना की।[1] इन साधना मे केवल आत्म-तुष्टि की ही भावना नहीं थी, उसमे लोक-कल्याण की भी भावना थी। तभी तो उन्होने भ्रमण द्वारा, पडितो और साधु-सन्तो के सत्सग द्वारा तथा वेदशास्त्र और पुराण-उपनिषदो के परायण द्वारा ऐसी उत्कृष्ट कोटि की 'राम-रसायन' तैयार की कि जिसे सेवन करके हिन्दू-जाति विदेशी सभ्यता के महारोग से सदैव के लिए मुक्त हो गई और आज भी जिसके प्रभाव से उसका अपनापन जीवित है। लेकिन तुलसीदास जी का यह वैराग्यमय जीवन था, उसमे कष्टो और आपत्तियो की कमी नही थी। वे रोगो, दुर्जनो और दुर्दिनो से घिरे थे और पीडा से उनका शरीर जर्जर था तो भी उनका आत्मविश्वास बडा उच्च-कोटि का था और वे राम-नाम के प्रसाद से पैर पसारकर सोया करते

१—(अ) सेइय सहित सनेह देह भर कामधेनु कलि कासी।

(आ) तुलसी जो राम सों सनेह साचो चाहिए,
तौ सेइए सनेह सों विचित्र चित्रकूट को।

(इ) भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत निते हों।

२—(अ) घेर लियो रोगनि, कुजोगनि कुलोगनि ज्यों,
बासर जलद घन-घटा धुकि धाई है।

(आ) पाय पीर पेट पीर बाहु पर मुह पीर।
जर जर सकल सरीर पीर भई है।

थे।[1] वे अपने भगवान् राम को ही एकमात्र आराध्य मानते थे और अपना सब कुछ उनके अर्पण कर चुके थे। इसलिए उनकी आत्मा में अभूतपूर्व शक्ति आ गई थी और वे इस बात की चिन्ता नहीं करते थे कि लोग उन्हें क्या कहते हैं।

तुलसीदास के जीवन से एक बात और स्पष्ट होती है कि उनको समाज की प्रत्येक परिस्थिति का बड़ा गहरा ज्ञान था। क्या राजनीति, क्या समाज-नीति और क्या धर्म-नीति, सब की अच्छाई-बुराई की उन्होंने पूर्ण परीक्षा की थी और कुशल वैद्य की भाँति उनकी नाड़ी की प्रत्येक गति का अध्ययन किया था। यही कारण है कि अपने समय की परिस्थिति का उन्होंने बहुत अच्छा चित्र खींचा है।[2] ऐसी स्थिति में तुलसीदास जैसे आत्मत्यागी महात्मा की आत्मा यदि वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए, धर्म का शुद्ध रूप प्रदर्शित करने के लिए, राजनीति का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए तड़प उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। वेद-पुराणों

१—(अ) कौन का त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे।
(आ) प्रीति राम-नाम सों, प्रतीति राम-नाम की।
प्रसाद राम-नाम के, पसारि पाँय सूतिहौं।

२—(अ) खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों, "कहाँ जाय का करी।"
(आ) एक तो कराल कलिकाल सूल-मूल ता में।
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥
(इ) आस्रम बरन धरम बिरहित जग लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप-रत अपने-अपने रंग रई ।
साँति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत हुलसति खलई है॥

की निन्दा करने वाले और साथ ही भक्ति का निरूपण करने वाले व्यक्तियों को वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में वेद-विहित और वैराग्य विवेकसयुत हरि भक्ति-पथ को छोड़कर अनेक पथों की कल्पना करना और उस सत्यमार्ग को छोड़ना मोहग्रस्त होने की सूचना देने के समान था। वे इस बात को समाज के लिए अशोभनीय समझते थे कि शूद्र ब्रह्मज्ञानी होने का दावा करके ब्राह्मणों की बराबरी करे।[1]

वे वेद-शास्त्र-पारगत और समाज-शास्त्र-वेत्ता थे तथा उच्चकोटि के त्यागी महात्मा और कवि थे, तथापि अत्यन्त विनम्र, शीलवान और सरल हृदय के व्यक्ति थे। उनकी दीनता और विनय के समक्ष किसी भी भक्त कवि के कथन नहीं ठहरते। 'रामचरितमानस' जैसी श्रेष्ठतम रचना देने पर भी अपने को 'कवित्त विवेक' से हीन और कला तथा विद्या-रहित कहना तुलसीदास जी की महानता ही सिद्ध करता है।[2] कहते हैं कि जो जितना ही ऊँचा होता है, वह उतना ही विनम्र होता है। तुलसीदास जी पर यह उक्ति अक्षरश चरितार्थ होती है। वे अपने सम्बन्ध मे इस प्रकार की लघुता की बात करते है और इसमे गौरव का अनुभव करते हैं। वह इसलिए कि इससे उनकी आत्मा की महानता व्यक्त होती है।

१—साखी, सबदी, दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहि भगत कलि, निन्दहि वेद पुरान॥
स्रुति-सम्मत, हरि भगति पथ, सजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहि पथ अनेक॥
बादहि सूद्र द्विजन सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो विप्रबर, आँखि दिखावहि डाटि॥

२—कवि न होउँ नहि बचन प्रबीना। सकल कला सब बिद्या-हीना॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
बचक भगत कहाइ राम के। किंकर कचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धधक धोरी॥
जौ अपने अवगुण सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहि लहऊँ॥

तुलसीदास जी को पाखंड और आडम्बर से बड़ी चिढ़ थी। वे स्वयं सरल हृदय के व्यक्ति थे। इसलिए जहां कहीं वे इस प्रकार की अनर्थक बातें देखते थे वहीं उनका क्रोध प्रकट हो जाता था और कभी-कभी बुरी तरह उन्हें फटकार देते थे।[1] इसके साथ ही वे 'नर-काव्य' करना ही नहीं जानते थे। उनके समय में अकबर के दरबार में रत्नों की चमक होती थी। अनेक कवि राजाश्रय में रहते थे परन्तु तुलसीदास जी की यह विशेषता थी कि वे इस मुहदेखी 'प्रशंसा' और 'राजाश्रय' से कोसों दूर थे। किसी अपात्र की प्रशंसा करना वे सरस्वती का अपमान समझते थे।[2] ठीक भी है, जिसे समाज-निर्माण करना हो और समूचे राष्ट्र को जीवन देना हो वह व्यक्ति इन छोटी-छोटी बातों में किस प्रकार उलझ सकता था!

तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में—उनकी अन्तरात्मा की प्रकृति के विषय में—इतना जानने के साथ ही एक बात और भी जानने योग्य है। वह यह कि तुलसीदास जी के समय विश्वनाथपुरी काशी संस्कृत का गढ थी, इसीलिए जब तुलसीदास जी ने अपनी रामायण अवधी भाषा में, जिसे भाखा कहा जाता था, लिखी तो पंडितों के क्रोध का ठिकाना न रहा। सुनते हैं तुलसीदास जी को उन लोगों ने अनेक कष्ट भी दिए थे और रामायण की हस्तलिखित प्रति को नष्ट भी कर दिया था। लेकिन तुलसीदास जी इससे विचलित नहीं हुए थे। होते भी क्यों? सिद्धान्त था कि दुष्टों के वचनों को चुपचाप सह लेना चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार कि पहाड़ बूंदों को सह लेते हैं—"बून्द अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे।" कर्तव्य की पुकार पर उनके हृदय ने भाषा में ही अपने अनुभव व्यक्त किए, यद्यपि वे चाहते तो संस्कृत में भी लिख सकते थे, लेकिन तब वे जनता के हृदय-हार न बन पाते, गिने-चुने

१—हम लखि हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै। राम नाम जपु नीच॥

२—कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

त्रिपुण्डधारी पंडितों के लिए कुछ सामग्री भले ही जुटा देते। जन-साधारण की भाषा में लिखकर उन्होंने अपनी महानता का परिचय दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास का जीवन, उनकी प्रकृति और स्वभाव भक्तिकाल के अन्य सभी कवियों से भिन्न है। वे जीवन में संतुलन के समर्थक थे और इसलिए वे चाहते थे कि जीवन का ऐसा उचित पथ लोगों को बताया जाए जिसपर चलकर वे आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा कर सकें। जन-साधारण की भाषा को अपनाना, समाज का गहरा अध्ययन करना, वेद-शास्त्रों के मंथन के युगानुकूल लाभप्रद तत्त्वों का संग्रह करना, दुर्भावनाओं और लोभ-लालच के सम्मुख न झुकना आदर्श के लिए सब कुछ बलि चढ़ा देना आदि ऐसे गुण हैं जो विरले ही महात्माओं में होते हैं। तुलसीदास जी ने अपना जीवन एक वैरागी और संसारत्यागी महात्मा के रूप में आरंभ किया था, परन्तु जीवन की कटुता और पीड़ित जन-समुदाय के संताप-सागर की उत्ताल तरंगों से उनका हृदय इतना भयभीत हो गया था कि वे आत्मबोध के लिए की गई साधना को लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करने को बाध्य हो गए। उनके साहित्य में जीवन की जो व्यापक अनुभूति मिलती है, उसका कारण उनका यही लोक-धर्म और समाज की मर्यादा को पुनर्जीवित करने की भावना है, जिसके लिए उन्होंने जीवन की सम-विषम अवस्थाओं को पारकर 'सियाराममय सब जग जानी, करहु प्रनाम जोरि जुग पानी' की टेक निभाई और भारतवर्ष की मृतप्राय हिंदू जनता को अमृत पिलाकर युग-युग के लिए अमर कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत लंबा जीवन पाया था। यह एक संयोग की बात थी। यह संयोग भी आवश्यक ही था, क्योंकि यदि वे इतना लंबा जीवन न पाते तो अपने ग्रंथों में जीवन की ऐसी मार्मिक विवेचना न कर पाते। यों तो उन्होंने अनेक ग्रंथ अपने जीवन-काल में लिखे होंगे, परन्तु रामलला नहछू, वैराग्य-संदीपनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली, रामचरितमानस

कवितावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका ये १२ ग्रंथ प्रामाणिक माने गए हैं। इनमें भी अंतिम छह विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि ये तुलसीदास जी के जीवन के आदर्शों और सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों के कोश है। अंतिम छह ग्रंथो में कृष्णगीतावली का महत्त्व इसलिए है कि इसमें कृष्णचरित्र वर्णन होने से तुलसीदास ऐसे वैष्णव कवि के रूप मे हमारे सम्मुख आते हैं, जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है और जो अवतारवाद का प्रबल समर्थक है। यह ब्रजभाषा में है और पद-रचना मे कवि के कौशल को प्रकट करती है। 'विनयपत्रिका' कवि के आत्मनिवेदन और आत्मबोध के प्रदर्शन के साथ-साथ उसके दार्शनिक और भक्ति के सिद्धान्तो को व्यक्त करती है। 'कवितावली' में राम के पराक्रम की प्रधानता है और 'गीतावली' में उनके बाल-वर्णन की। 'गीतावली' को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ को लिखने से पूर्व वे 'सूर-सागर' देख चुके थे और कृष्ण का बाल-वर्णन पढ चुके थे। तभी उस रूप में बाल-वर्णन लिखने की उन्हें सूझी। इसकी शैली सूर से बहुत मिलती जुलती है। अब एक ही ग्रंथ बच जाता है और वह है 'रामचरितमानस'। यही ग्रंथ मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की यश-गाथा से सुशोभित है। रामकथा का यह ज्वलन्त दीपक है, जिसके प्रकाश में जीवन का समस्त कलुष धुल जाता है। यो तो उनके सभी ग्रन्थो मे राम की कथा थोडी-बहुत है ही, परन्तु इसमें विशेष रूप से राम का जीवन चित्रित किया गया है। इस ग्रंथ को गोसाईं जी महाराज ने महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है। जिसमें जीवन के समस्त अंगो का पूर्ण समावेश किया गया है। साथ ही धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो को रामकथा के साथ ऐसा जड दिया गया है कि शुष्क सिद्धान्त भी काव्य की वस्तु बन गए हैं। इस ग्रन्थ को उन्होंने 'स्वान्त सुखाय' लिखा है और इसके लिए 'नानापुराणनिगमागम'

की सहायता ली है।[1] विशेषता यह है कि उन्होंने सहायता लेने पर भी उसे ऐसा अपना बना लिया है कि सरलता से उसे आप खोज नहीं सकते। यही उनकी मौलिकता है। उन्होंने राम को नारायणत्व से अभिभूषित करके उपस्थित किया है, वाल्मीकि की भांति नरत्व में नहीं। वे भू-भार उतारने के लिए पृथ्वी पर आए हुए हैं, यह दिखाना ही कवि का लक्ष्य है, लेकिन कवि की विशेषता यह है कि पाठक को वे मनुष्य के रूप में सर्वत्र दिखाई देते हैं। कहीं भी उनका वह ब्रह्म का रूप पृथक्त्व की सृष्टि करके इस पार्थिव संसार से दूर की चीज नहीं दिखाई देता। तुलसीदास की यही मौलिकता है, जो उन्हें सदा हमारे निकट रखती है, चाहे किसी भी परिस्थिति में हो। और आश्चर्य की बात यह है कि नर-चरित पढ़ते हुए भी हमें सदैव उनके प्रभु पर श्रद्धा और भक्ति बनी रहती है। तुलसीदास जी की इस कला की प्रशंसा के लिए वाणी मूक हो जाती है। रामायण निःसंदेह भारतीयता का प्रतीक है और जब तक यह है हिन्दुत्व का ह्रास भले ही हो जाए, नाश नहीं हो सकता। यह क्या कम सौभाग्य की बात है!

बार-बार 'हिंदुत्व' शब्द पढ़कर पाठक यह न समझें कि हम तुलसीदास जी को संकीर्ण हृदय का व्यक्ति समझते हैं। वास्तव में तुलसीदास जी ने जो कुछ किया उसमें हिंदू-राष्ट्रीयता की स्थापना का उद्देश्य निहित था, इसलिए हम यह शब्द अधिक प्रयोग कर रहे हैं। कुछ लोग तुलसीदास जी को सम्प्रदायवादी, हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का प्रचारक और दकियानूस समझते हैं। उनकी दृष्टि बड़ी कमज़ोर है, वे किसी कवि को उसकी परिस्थितियों में रखकर नहीं देख सकते। इसीलिए वे ऐसा कहते हैं। इसमें दोष उनकी शिक्षा का है, उनका नहीं। व्यक्ति

१—नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्—
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा।
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

समय के साथ आता और चला जाता है। उसे उस समय के अतिरिक्त आगे या पीछे की परिस्थितियों के बीच मे रखकर देखना उस व्यक्ति के प्रति अन्याय करना है। तुलसीदास जी को आज की परिस्थितियो मे रखकर देखना और उन्हे चाहे जो कह बैठना असगत है। उनके हिंदुत्व से घबराकर उन्हे आप बुरा-भला कहे, इससे उनकी महत्ता कम नही होती। वे अपने समय के सजग द्रष्टा थे और उस नाते उन्हे राष्ट्रीयता की कल्पना केवल हिंदू-जाति के सामूहिक उत्थान मे ही दीख पडी। शासक जाति की ओर से प्रयत्न हो रहे थे और धार्मिक उदारता का परिचय दिया जा रहा था, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। परतु काव्य जगत् अथवा साहित्य की सृष्टि इतिहास से बहुत भिन्न है। तुलसीदास जी इतिहास लेखक नही थे जो शुष्क घटनाओं या ऊपरी बातो से प्रभावित होकर रोजनामचा तैयार करते। वे युगद्रष्टा कवि थे, जनता की भावनाओ को पढने की शक्ति रखते थे। फिर जिस प्रकार के सस्कार लेकर वे जन्मे थे और जैसे वे अनुभव के लिए मारे मारे फिरे थे, उस सब से उनका व्यक्तित्व विशेष प्रकार का बन गया था। हिंदू सस्कृति के प्रत्येक अग का उन्हे एसा ज्ञान था कि व सरलता से विशेषज्ञ कहे जा सकते थे। उसी सस्कृति के उत्तराधिकारी होकर उन्होंने उसकी रक्षा के लिए अपनी समस्त शक्ति लगाई। इसमे द्रष्टव्य यह है कि उन्होने शासक जाति के प्रति उथनी अनुदारता का परिचय नही दिया। हा, सास्कृतिक दृष्टि स उसकी आलोचना अवश्य की।

उनकी सब से बडी देन है 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय। यह अकेली देन ही उनको त्रिकालदर्शी कवि बना देती है। एक परम पुरातन इतिवृत्त को लकर उसमे राजनीति, धर्म, समाज आदि के सिद्धान्ता का समन्वय करत हुए 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय दिखाने मे ही उनके काव्य कौशल की छटा देखी जा सकती है। प्रश्न यह है कि यह 'रावणत्व' की कल्पना कहा से आई ? यह कल्पना कही यो ही उनके मस्तिष्क म नही आ गई थी। यह उनके गहन चितन और मनन का

परिणाम था। उन्होंने देखा कि राजाओं में आपस में फूट है, परस्पर-विरोध है और साम्राज्य मुसलमानों के हाथ में है। भीतरी कलह ने देश को बरबाद कर रखा है। लोग महाभारत की रीति बरतने लगे हैं। भाई-भाई में, बंधु मित्र में, परिवारी-कुटुम्बी में थोड़ी-थोड़ी बात पर परस्पर कलह है। बाहरी वैरी दबाए बैठा है। उस वैरी से छुटकारे का कोई साधन नहीं है। लोग निराश होकर उसको आत्मसमर्पण कर रहे हैं। गोस्वामी जी ने इसे बड़ी गहरी दृष्टि से देखा था, और वे चाहते थे कि इस रोग की कोई दवा की जाए। *हमारा विश्वास है कि यदि उस काल में हिंदू-जनता में जरा भी बल होता तो* तुलसीदास जी ने क्रियात्मक रूप से भाग लिया होता और वे राजनीतिक नेता हो गए होते और उन्होंने अपना सारा समय इस बात के लिए लगाया होता कि हिंदू उठें और अपने को सभालकर देश और जाति की रक्षा करें। लेकिन निराश हिंदू-जाति के लिए व इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते थे कि अपनी लेखनी की शक्ति का उपयोग करके ही जागृति का मंत्र दे जाएं। यह अच्छा ही हुआ, *क्योंकि यदि वे साहित्यकार न बने होते तो उनके* तत्कालीन नेतृत्व से ही हम लाभान्वित होते, जब कि आज हमें इतने वर्ष बाद भी उनके विचारों से लाभ उठाने का अवसर है। तो हम यह कह रहे थे कि तुलसीदास जी ने अपने समय में मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति को देखा था, उससे वे बड़े परेशान थे। परेशान इसलिए थे कि उनका व्यक्तित्व हिंदुत्व के लिए अपने को मिटा चुका था। वे जो कुछ सोचते थे, विशाल हिंदू राष्ट्र की दृष्टि से ही सोचते थे। इसलिए उन्होंने *अपने साहित्य के मंथन द्वारा रामचरित चिंतामणि का पुनरुद्धार किया* और रामत्व का मंत्र दिया। यह रामत्व है क्या ? भगवान् ने गीता में कहा है कि जब जब धर्म की हानि होती है तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिए, साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टात्माओं के विनाश के

लिए मैं अवतार लिया करता हू ।[1] तुलसीदास जी ने इस प्रतिज्ञा की याद दिलाने के लिए ही मानो रामचरित का गान किया । उस रामचरित के गान मे स्थान-स्थान पर उनके राजनीतिक विचार बिखरे पडे हैं । रावण ऐसा दभी और पाखडी राजा था कि उसने ऋषियो तक को वर मे मुक्त नही किया था । वह देव, गधर्व, किन्नर सबको परेशान किया करता था और प्रभुता के मद मे सदा चूर रहा करता था और सोचता था—

छुधाछीन बलहीन सुर, सहजेहि मिलिहहि आइ ।
तब मारिहौं कि छाड़िहौं, भली भांति अपनाइ ।।

ऐसे रावण का प्रकट रूप मे मुकाबिला करना असम्भव था और उस दशा मे जब कि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर-विरोध मे रत हों, यह देखकर रावण सारे भारत मे अपना आतक जमाए था और मानव मात्र का जीवन खतरे मे था । राम की ही ऐसी शक्ति थी कि उसे ज्यो-त्यो करके समाप्त किया जाता और उन्होने साम, दाम, दड भेद से उसका सहार करके ही छोडा । तुलसीदास के समय के शासको के अत्याचारो और उनकी राजनीति तथा धार्मिक कट्टरता को आप रावण की उस क्रूरता से मिलाए तो आपको उसमे शायद ही कही असमानता मिले । वे मानो तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के ही सजीव चित्र है, जिनमे दलित और पीडित मानव के लिए एक सदेश निहित है । रावण के अन्यायो का वर्णन कर तुलसीदास जी ने अपने समय के शासको के राजनीतिक अत्याचारो की ओर ही सकेत किया है । इसलिए उन्होने राम जैसे आदर्श राजा और 'राम राज्य' जैसे आदर्श राज्य की कल्पना की । तुलसी के राजनीतिक विचारो के ज्ञान के लिए राम का जीवन और राम राज्य का वर्णन दोनो ही उपयुक्त साधन हैं । अन्य स्थानो पर

१—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

भी उन्होंने राजधर्म का वर्णन किया है और स्वराज्य, सुराज, राजा का आचरण, प्रजा का व्यवहार, मत्री का कर्तव्य, इनका धर्म, आपद्धर्म, दड की विधि, राजा राजा, मित्र मित्र, शत्रु शत्रु और शत्रु मित्र का पारस्परिक व्यवहार, सेवक और स्वामी का सम्बन्ध आदि बातो पर विस्तार से विचार किया है। उपयुक्त विवेचना का उद्देश्य पाठकों को यह बतलाना है कि *तुलसीदास जी ने 'रामत्व' और 'रावणत्व' की जो कल्पना की है* उसके मूल मे भारत की तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था थी जिससे दुःखी होकर उन्होंने प्रच्छन्न रूप से सकेत कर दिया है। एक युगप्रवर्तक कवि के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक भी था। तुलसीदास जी ने यद्यपि उस समय की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया है और यह बताया है कि उसकी बुराइयो के प्रतिकार के लिए क्या किया जा सकता है, तथा वास्तविक राजधर्म क्या है, तथापि उनकी वह राजधर्म की कल्पना एकदेशीय नही है, बल्कि सार्वभौमिक है और उसकी व्यापकता त्रैकालिक है। जब तक अत्याचारी शासक पृथ्वी पर हैं और जब तक उनका दमन मानव-कल्याण के लिए आवश्यक है तब तक तुलसीदास जी के राजनीतिक आदर्शों को सार्वभौमिकता से वचित नही *किया जा सकता।*

राजनीति तो उन्होने सकेत से चित्रित की है और उसमे कथा द्वारा अपने विचारो का प्रदर्शन किया है। वैसे उनका मूल ध्येय तो समाज-नीति की स्थापना का था। वे किसी पथ, सम्प्रदाय या मतविशेष को न मानकर प्राचीन सनातन परिपाटी के हामी थे। उनकी दृष्टि बडी दूर तक जाती थी। वैदिककाल मे आर्य सभ्यता का जो सूर्य समस्त जगत् मे प्रकाश करता था, उसका कारण यह था कि समस्त आर्यजाति वर्णाश्रम धर्म की भावना से ओतप्रोत थी और उस धर्म का पालन करना ही प्रत्येक व्यक्ति का पावन कर्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों मे समाज का विभाजन हुआ था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—इन चार आश्रमो का पालन इस प्रकार किया

जाता था कि जीवन के विकास की पूरी-पूरी सुविधा रहती थी और सामाजिक सतुलन भी बराबर बना रहता था। धर्म, ज्ञान-विज्ञान और स्वार्थ-परमार्थ की सिद्धि के लिए जीवन का मार्ग अत्यत उपयोगी था। इस प्रयोग ने एक बार भारतवर्ष की गुण-गरिमा से समस्त विश्व को चौंका दिया था। तुलसीदास जी ने वेद-शास्त्रों के अध्ययन से इसका अनुभव किया था और वे प्राचीन सभ्यता के काल्पनिक स्वर्ग के निवासी हो गए थे। लेकिन जब उन्होंने अपने सामने ही आर्य जाति के वशजो की दुर्दशा देखी तो वे तत्काल ही समझ गए कि इस दुर्दशा से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन उस वर्णाश्रम-धर्म की पुन प्रतिष्ठा है, जिसने आदि काल से अब तक इस जाति की रक्षा की है। इसीलिए उन्होंने लोक-धर्म के नाम पर वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। प्रश्न हो सकता है कि छुआछूत और धनी निर्धन की समस्या ही हिन्दुओं के पतन का मूल कारण थी तब तुलसीदास जी ने इसे कबीर की भाति अथवा साम्यवाद के सिद्धात से मिलते-जुलते मार्ग को लेकर इस समस्या को क्यों नही सुलझाया? इसका उत्तर तुलसीदास जी के दृष्टिकोण से ही यह दिया जा सकता है कि उनकी दृष्टि तात्कालिक हल ढूढने मे न थी और न वे यही चाहते थे कि समयानुसार साधनों का उपयोग कर मामला सुलझा लिया जाए। वे तो बहुत गहरी नीव रखना चाहते थे और आर्य-सस्कृति के गगनचुम्बी प्रासाद की जो दयनीय अवस्था थी उसे वे मरम्मत द्वारा ठीक करना चाहते थे, न कोई नया रूप ही देना चाहते थे। वे तो उसे उसी रूप मे पुन साज-सज्जा मे उपस्थित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय सस्कृति के प्रतीक राम को लिया, जब कि उनके पूर्ववर्ती कवियों ने या तो साधारण राजाओं की गुणावली गाई, या निर्गुण ब्रह्म की पहेलिया बुझाई, या प्रेमकथाए कहीं। कुछ कवियो ने, जैसे सूर आदि ने, भगवान् का राम से मिलता-जुलता रूप लिया भी था परन्तु वह केवल एकागीपन को लिए हुए था, सस्कृति का प्रतीक वह नहीं था। तुलसीदास जी ने ही सर्वप्रथम राम के रूप मे ऐसी कल्पना

की कि भारतीय संस्कृति के लिए जीवन में नये प्रकाश की किरणें चमकीं। फिर वे नये मार्गों और पंथों के घोर विरोधी थे। वे तो कहा करते थे कि अपने मतों की कल्पना करके पंथों का प्रकाशन करना दंभियों का काम है। ऐसी स्थिति में जबकि वर्णाश्रम-धर्म नहीं है और सब नारी-नर वेद-विरुद्ध हैं, ऐसे पंथों का प्रकाशन हेय है।[1] इसीलिए स्वयं त्यागी और विशेष प्रकार के सिद्धान्तों के मानने वाले महात्मा होते हुए भी उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। हां, उनका ध्यान इस ओर अवश्य था कि जितने भी पात्र उनके द्वारा चित्रित किए जाए वे सब सात्त्विक भावना से भरे हों, उनमें दुर्भावना या तामस वृत्ति न हो। रावण को छोड़कर उनके किसी पात्र को लीजिए, वह सद्भावना से विमुख नहीं मिलेगा।

रावण की विद्या-बुद्धि की उन्होंने जी खोलकर प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। हां, निन्दा उसके विद्या-बुद्धि के दुरुपयोग की ही की है, जिसने उसे राक्षस बना दिया। सबसे पहले राम को ही लीजिए। वे आदर्श राजा थे। उनके पिता दशरथ भी पुत्र-प्रेम और राजधर्म के ज्वलंत उदाहरण थे। परन्तु राम ने अपने पिता की स्त्रैणता देखी थी और देखा था उसका दुष्परिणाम। अतएव उन्होंने एक-पत्नीव्रत का पालन किया। हमारी सम्मति में तुलसीदास जी ने राम के एकपत्नीव्रत-पालन का जो आदर्श रखा है, वह उनकी सबसे बड़ी देन है। राम ही नहीं, उनके सभी भाइयों के एक ही एक स्त्री थी। स्त्री ही नहीं संतानें भी दो से अधिक किसी के नहीं थीं। यह एक ऐसा उदाहरण है, जिसकी समानता के लिए हमारे पास कोई अन्य उदाहरण नहीं है। उनकी सीता भी ऐसी तपस्विनी स्त्री हैं, जो पति के इंगित पर जीती हैं। उनके लिए सर्वस्व वही हैं और वे राजमहिषी होने हुए भी अपने हाथ से घर

१—दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।
बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन॥

का काम-काज करती हैं, 'निजकर गृह परिचर्या करही'। राजा-रानी ही नहीं प्रजा भी अपने कर्तव्य-पालन में उसी प्रकार रत है। चाहे आधुनिक साम्यवादी समाज वहा न हो लेकिन वानर, राक्षस, दानव, कोल, भील, किरात, गीध सब रामचन्द्र जी के लिए समान थे और सबको उन्होंने सम्मान भी दिया था। नारी जाति के प्रति भी तुलसीदास जी का आदर-भाव था। पार्वती, अनुसूया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि का उनका चित्रण इस बात का प्रमाण है। कुछ लोग तुलसीदास जी को स्त्री निंदक कहते हैं और उनके उन स्थलों को उद्धृत करते हैं, जहां उन्होंने नारी जाति की निंदा की है[1]। लेकिन यह भूल है। जिस लेखनी ने उक्त चरित्र अंकित किए हैं और उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है, वही लेखनी स्त्री-निंदा का जघन्य कार्य कैसे कर सकती है? बात यह है कि ऐसे वचन विशेष स्थिति में पड़े पात्रों द्वारा ही कहलाए गए हैं, इसलिए वे तुलसी के न होकर विशेष स्थिति में पड़े पात्रों के ही समझने चाहिए। तुलसीदास जी का समाज वर्गहीन भले ही न हो परन्तु वह था आदर्श, और उसमे सुख-समृद्धि की कमी न थी। उत्तरकांड मे तुलसीदास जी ने रामराज्य का जो चित्र खीचा है वह इसी आदर्श का मूर्तिमान रूप है, जिसमे वर्णाश्रम धर्म के तत्त्व निहित हैं—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

◇ ◇ ◇

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥

◇ ◇ ◇

१—ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।
(सागर की उक्ति राम के प्रति, अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिए)

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया॥
(रावण की उक्ति मंदोदरी के प्रति, अपनी महत्ता बतलाने के

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि व्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एकनारि व्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

रामराज्य के साथ ही उन्होंने 'कलियुग' के वर्णन में तत्कालीन समाज की अव्यवस्था का जो चित्रण किया है उससे पता चला है कि उस परिस्थिति की ही यह प्रतिक्रिया थी जो उन्होंने ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की।

राष्ट्र और समाज के साथ उनके पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन की आदर्श भावना भी अत्यन्त भव्य है। रामचरितमानस पारिवारिक और व्यक्तिगत आदर्शों का खजाना है। यदि भ्रातृप्रेम का उदाहरण देखना हो तो लक्ष्मण को लीजिए। नवविवाहिता पत्नी को छोड़कर भाई-भाभी को पिता माता के रूप में अपनी सेवा का आदर्श बनाना खेल नहीं है। १४ वर्ष तक का जो व्रत इस त्यागी ब्रह्मचारी ने लिया उसे निभाना किसी दूसरे का काम नहीं। उनका क्रोध भी राम के अर्थ है। वैसे वे धीर भी हैं और गंभीर भी। यह तो हुआ भ्रातृप्रेम। भ्रातृभक्ति का साकार रूप यदि देखना हो तो भरत की ओर देखिए। राज्य मिला, ठुकरा दिया। और मजे की बात देखिए, राम के लौटने तक शासन-कार्य संभाला स्वयं और राजा माना भाई की पादुकाओं को। वे पादुकाएं राम के रूप में सिंहासन पर रहीं और भरत ने मानो उनके सामयह आदर भाव प्रकट करके अपना ही महत्त्व बढ़ाया। राम ने उन्हें प्रमाणपत्र दिया, 'होतो नहिं जो जगजनम भरत को। तो, कवि कहत कृपानधार मग चलि आचरत बरत को।' शत्रुघ्न भी कम नहीं हैं। लक्ष्मण के छोटे भाई हैं। उग्रता उनमें जन्मजात है, पर उच्छृंखलता नहीं। मथरा को चोटी से पकड़कर खींचने में उनका दोष भी क्या है? ऐसे श्रेष्ठ परिवार को अशांत बनाने वाली के साथ जो न किया जाए, वही थोड़ा है। छोटे भाई ही नहीं, बड़े भाई के रूप में आदर्श राम को लीजिए। समुद्र-से गंभीर,

हिमालय-से धीर, आकाश-से उदार हैं। शक्ति, शील और सौंदर्य के संगम हैं। वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हैं। अत्याचारियो के दमन मे उनके रौद्र रूप के और शरणागतो पर कृपा-प्रदर्शन मे उनके कोमल रूप के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण का क्रोध, भरत का त्याग, शत्रुघ्न की उग्रता अपने बडे भाई की गभीरता के समक्ष अनायास शान्त हो जाती है। ये भाई पुत्र-कर्तव्य के पालन मे भी आदर्श हैं। पिता ने एक माता के कहने से—जिसे दासी ने बहका दिया था—बडे भाई को वनवास दिया। बडा भाई तो आज्ञा मानकर वन जाता ही है, छोटा भी साथ चल देता है। हम तो समझते हैं कि यदि भरत और शत्रुघ्न भी उस समय वहा होते तो वे भी राम के साथ चल देते और दशरथ के लिए एक समस्या खडी हो जाती। पर वे वहा थे नही, इसलिए यह समस्या खडी नही हुई। लेकिन दशरथ भी सत्यपालन और पुत्र प्रेम मे कम नही है। वरदान तो आखिर देने ही थे, सत्य के रक्षार्थ दे दिए। पुत्र-प्रेम भी पालना था। पुत्र के वनवासी होने पर प्राण दे दिए। इस प्रकार दोनो बातें हो गईं—राजधर्म की भी रक्षा हो गई और पुत्र-प्रेम की भावना की भी।

पिता-पुत्र ही नही, परिवार के अन्य सदस्यों मे माताओ का व्यवहार और भी त्यागपूर्ण है। कौशल्या का पुत्र राम वन जाता है और आज्ञा के लिए आता है तो वह कैकेयी की ही आज्ञा को ऊपर स्थान देती है। अपने को राम की माता ही नही मानती। और आश्चर्य यह कि कैकेयी के प्रति एक भी कटु शब्द नही कहती। वही हाल सुमित्रा का है। जवान बहू का ध्यान न कर पुत्र को भाई-भाभी की सेवा के लिए उपदेश देकर वन भेज देती है। न अपनी चिन्ता है न अपनी सन्तति की। ऐसा बलिदान-भाव आप अन्यत्र नही देख सकेंगे। लक्ष्मण के समान यशस्वी, त्यागी, वीर और आज्ञाकारी पुत्र पैदा करने पर भी उसे अभिमान या ईर्ष्या छू तक नही गई है। स्त्री-पात्रो मे सुमित्रा का चरित्र बहुत उज्ज्वल है। कैकेयी का चरित्र कुछ ऊचा नही है, परन्तु कवि को इस चरित्र द्वारा ही अपने कौशल दिखाने की सुविधा थी। इसलिए उसकी अवतारणा

भी हेय नही है। फिर कैकेयी ने जो कुछ किया है, पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर किया है; उसमे उसका अपना स्वार्थ क्या है ? स्वय उसके पुत्र ने ही उसका तिरस्कार किया है। उसका चरित्र घृणा का नही दया का पात्र है। यदि नारी के चरित्र का विकास देखना हो तो सीता का चरित्र देखिए। सीता जैसी आदर्श स्त्री विश्व-साहित्य मे चित्रित नही हुई। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य है और वह नारी-जगत् की आदर्श प्रतिमा है। हनुमान् जी आदर्श सेवक हैं, जो अपने स्वामी के लिए सभव-असभव सब कार्य निरालस भाव से करते हैं। मित्रता के लिए निषाद, विभीषण और सुग्रीव के चरित्र लीजिए। प्रभु के सख्य-भाव का यहा पूर्ण विकास है। इस प्रकार परिवार और व्यक्तित्व की दृष्टि से तुलसीदास जी ने जिन पात्रो की कल्पना की है वे सब ऐसे हैं जो आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श सेवक और आदर्श मित्र का श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त करते है। व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र। इस तथ्य को तुलसीदास जी बहुत अच्छी तरह समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे सुन्दर व्यक्तियो से निर्मित परिवार की कल्पना की और ऐसे श्रेष्ठ समाज तथा ऐसे उत्कृष्ट राष्ट्र का चित्र प्रस्तुत किया।

तुलसीदास जी आदर्श भक्त और त्यागी महात्मा थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह लोकहिताय हो गया। वे अपने प्रभु को सर्वत्र व्याप्त देखते थे। 'जड चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि। बदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।' कहकर उन्होंने इसी तथ्य की ओर सकेत किया है कि उनके लिए सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ राममय है। उनके इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की जो कल्पना की वह बडी विशाल थी। यदि उनकी कल्पना इतनी विशाल न होती तो वे अपने समय के शैवो, शाक्तों और पुष्टिमार्गियो के पारस्परिक झगडो को न मिटा पाते। इन तत्कालीन सम्प्रदायों के एकीकरण का सुफल यह हुआ कि वैष्णव धर्म का ऐसा स्वरूप लोगो के सम्मुख आ गया जो एक ओर

तो भारतीय संस्कृति पर आश्रित होने के कारण हिन्दू-राष्ट्रीयता को स्थापित कर सका और दूसरी ओर मानव धर्म के सिद्धातो से युक्त होने के कारण आघात पर आघात सहने पर भी नष्ट न हो सका। एक लाभ उनके धर्म-समन्वय का यह भी हुआ कि उससे हिन्दू-धर्म दूसरो की प्रतिद्वन्द्विता मे खडा होने योग्य हो गया। इसके कारण रामभक्ति का प्रचार भी हुआ और उनका 'रामचरितमानस' धार्मिक ग्रथ भी हो गया। उनके इसी समन्वय को लोक धर्म का नाम दिया गया है जिसमे अज्ञात स्वर्ग के सुखो की आशा न होकर व्यावहारिक जीवन मे ही स्वर्ग की अवतारणा की गई है और श्रुति सम्मत हरि-भक्ति-पथ पर चलने के लिए शील के साथ सदाचार की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। समीक्षको ने उनके विचारो और दार्शनिक निरूपण को देखकर उन्हे अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, स्मार्त वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायो का अनुयायी बताया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि तुलसीदास जी के कथन का ढग ऐसा अनूठा है कि जो चाहे वह अपने अनुकूल अर्थ कर सकता है। वस्तुत बात यह है कि गोस्वामी जी रामानुजाचार्य जी की परम्परा मे श्रीरामानन्द के सिद्धातो के मानने वाले थे। ये वे ही रामानन्द हैं, जिन्होने कबीर को (रामनाम) का मन्त्र दिया था और जिसके आधार पर कबीर ने 'निर्गुण सर्गुण से परे' अपने राम की कल्पना की थी। तुलसी का राम भी 'विधि हरि शभु-नचावनहारा' और दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म है। हम तो समझते हैं कि कबीर के व्यापक निर्गुण सम्प्रदाय के विरोध मे ही तुलसी ने उनसे मिलते-जुलते ईश्वर की कल्पना की है। उन्होने कबीर के सम्प्रदाय को नाम शेष करने के लिए उनके आध्यात्मिक ईश्वर को, जो केवल साधको के काम का था और जो भक्ति का विषय नही बन सकता था, लौकिकता का विषय बनाकर जन-जन के लिए भक्ति-सुलभ बना दिया। उसके निर्गुण और सगुण दोनो रूप इसलिए रखे कि अपनी बात भी वे कह सकें और बिना कुछ कहे निगुणिए सन्तो को भी पराजित कर सकें। यही क्या, उन्होंने तो सरस्वती, गणेश, शिव, पार्वती,

गुरु, वाल्मीकि, मारुति, सूर्य, गंगा आदि सब की वंदना की है। 'विनय-पत्रिका' की विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की वंदना से लोग उनको स्मार्त वैष्णव कहते है, परन्तु यह भूल है। वे सब देवताओं की वंदना केवल इसलिए करते हैं कि उनसे राम-भक्ति का वरदान ले सकें। ये देवता भगवान् के रूप नहीं, विभूति हैं। इसलिए वे न स्मार्त वैष्णव हैं न अद्वैतवादी और न विशिष्टाद्वैतवादी। वे तो सीधे-सादे राम के भक्त है। इन वादों की झलक लोगों को इसलिए मिल जाती है कि तुलसीदास जी अपने भगवान् का निरूपण करते समय इनके सिद्धांतों की भी सहायता लेते हैं, जिन्हें देखकर लोग उन्हें भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत घसीटते हैं। वस्तुत तुलसीदास जी राम के अनन्य सेवक हैं और उनका सिद्धांत है कि 'सेवक सेव्यमान बिनु भव न तरिय उरगारी।' यही 'सेवक-सेव्य' भाव उनकी विशेषता है। तभी वे कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंता।
मैं सेवकु सचराचर रूप रासि भगवंता॥

यही कारण है कि उन्हें ज्ञान का पथ कृपाण की धार दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान-भ्रष्ट होने में देर नहीं लगती।[1] वैसे वे ज्ञान और भक्ति में भी कोई भेद नहीं रखते[2], क्योंकि दोनों से ही भव-जात दुःख दूर होने हैं। लेकिन भक्ति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि वही सरल मार्ग है, और उससे मुक्ति स्वतः चली आती है।[3]

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास सीधे सादे भक्त-हृदय हैं। किसी वाद की कोटि में नहीं आते। यदि उन्हें वाद में रखना ही अभीष्ट हो तो वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। क्योंकि गीता से लेकर गांधीवाद तक सभी धर्म-प्रवर्तकों के सिद्धांत उनकी वाणी के विषय हैं। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में गीता का अनासक्ति योग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद,

---

१—ग्यान के पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
२—भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
३—राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥

वैष्णवो और शैवो का अनुराग-वैराग्य, शाक्तो का जप, शंकर का , अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, निंबार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभाचार्य की वालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियो का संयम, कबीर आदि सन्तो का नाम-माहात्म्य, रामकृष्ण-परमहस का समन्वयवाद, ब्रह्म-समाज की ब्रह्म कृपा, आर्य-समाज का आर्य-सगठन और गाधीवाद की सत्य-अहिंसामूलक आस्तिकतापूर्ण लोक-सेवा आदि सब कुछ तो उसमे है ही, साथ ही मुसलमानो का मानव-बन्धुत्व और ईसाइयो का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी उसमे क्रीडा कर रहे हैं।

अब तक हमने तुलसीदास जी के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारो का ही परिचय पाया है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नही है। ये महात्मा कुशल राजनीतिज्ञ, योग्य समाज-शास्त्री और तत्त्वदर्शी दार्शनिक होने के साथ-साथ कवि-शिरोमणि और सरस्वती के वरद पुत्र भी हैं। और सच तो यह है कि काव्य की मीठी कुनैन मे ही उन्होने ऊपर के विभिन्न विषयों का समावेश कर दिया है, जिससे ग्रहण मे सुविधा हो। उनके कथन की भी यह विशेषता है कि वे भक्त और कवि एक साथ हो गए हैं। इसका कारण है—उनकी द्रवणशील वृत्ति। यही वृत्ति साधारण प्राणी और कवि मे अन्तर उपस्थित करती है। साधारण व्यक्ति के लिए बडी से बडी घटना कुछ मूल्य नही रखती, जब कि कवि के लिए छोटी से छोटी वात भी महत्त्वपूर्ण होती है। आदिकवि वाल्मीकि ने जिस क्रौंच पक्षी के वध से कातर होकर करुण चीत्कार किया था[1] उसे सैकडो व्यक्तियो ने देखा होगा पर वह द्रवणशीलता किसीमें न थी, जो कवि वना जाती और जिससे वे ऋषि की भांति शाप दे सकते। ऋषि की यही भावुकता उन्हे आदिकवि वना गई। यही अन्तर होता है साधारण व्यक्ति मे और कवि मे। तुलसीदास जी सच्चे अर्थों मे कवि

१—मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥

थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि अपनी वाणी के स्फुरण के लिए उन्होंने ऐसा असाधारण चरित्र चुना, जिसे उनके सिवाय—कम से कम उस समय—कोई छूने का साहस भी नहीं कर सकता था। यद्यपि वह कथानक प्राचीन था तथापि उस प्राचीनता मे ऐसी नवीनता उत्पन्न कर देना कि नवीनता ही श्रेय की वस्तु बन जाए और प्राचीनता की ओर से लोग उदासीन-से होकर कहने लगें कि भाई इस नवीनता में प्राचीन और नवीन सब कुछ आ गया है, अब हमें कुछ और नहीं चाहिए, तुलसीदास जी का ही काम था। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव और श्रीमद्भागवत तथा अन्य अनेक ग्रंथों से उन्होंने अपने काव्य की सामग्री जुटाई और उसे ऐसा रूप दिया कि कोई पहचान न सके कि इसमें कितनी नवीनता है और कितनी प्राचीनता। उन्होंने एक प्राचीन कथा को लेकर उसे ऐसा रूप दिया कि वह उनकी कल्पना और कला से और भी भव्य हो गई।

कथा के अतिरिक्त कवि की दूसरी विशेषता है उस कथा के अंतर्गत ऐसे मार्मिक स्थलों का चुनाव कर लेना, जिनसे कि कवि को अपनी भावुकता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर मिले। तुलसीदास जी ने ऐसे अवसर ढूंढ निकालने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। उन्होंने इसके लिए स्थान-स्थान पर कथा में हेर-फेर किया है परन्तु उस हेर-फेर से कथा की सौंदर्य-वृद्धि ही हुई है, हानि नहीं। राम का अयोध्या-त्याग और वन-गमन, चित्रकूट में भरत और राम का मिलन, वन में सीता-हरण के बाद राम का विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का साधारण मनुष्य की भांति रोना और पश्चात्ताप करना, भरत का सिंहासन पर राम की पादुकाएं रखकर स्वयं उदास चित्त से राम के आगमन की प्रतीक्षा करना आदि स्थल ऐसे हैं, जहां तुलसीदास जी को अपनी भावुकता दिखाने का पूरा अवसर मिला है।

वन-गमन के प्रसंग में ग्राम वधुओं का चित्रण भावुकता की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है। 'मानस', 'कवितावली' और 'गीतावली'—सभी में

उन्होंने इस दृश्य का सहृदयता से वर्णन किया है। इस दृश्य मे ग्राम-वधुओ की सरलता और भोलेपन का जो चित्रण गोस्वामी जी ने किया है, वह अन्यत्र नही मिल सकता। स्त्रिया उन सुन्दर राजकुमारो के साथ एक अतीव सुन्दरी को वन मे देखकर विधि की विडबना पर सोचती है और परस्पर कहती है कि वह रानी बडी अज्ञान है और उसका हृदय पत्थर से भी कठोर है। राजा भी नासमझ है, जिसने स्त्री की बात पर ध्यान दिया। ऐसी सुन्दर मूर्तियो से बिछुडकर प्रियजन (माता-पिता, परिवारी जन और नगर-निवासी) कैसे जीते होंगे? हे सखी ये आखो मे रखने योग्य हैं, इन्हे वनवास कैसे दे दिया?[1] इस भोलेपन के ऊपर, इस सरलता के ऊपर सारा ज्ञान, सारा विज्ञान निछावर हैं। तुलसीदास की भावुकता यहा पख लगाकर उडी है।

चित्रकूट मे जो सभा आयोजित की गई है उसमे पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा का आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। भरत ने उस सभा मे जो अश्रु-सरिता प्रवाहित की है, उसमे समस्त जड-चेतन डूब गए हैं। वह वातावरण बडा गम्भीर है। कैकेयी के परिताप की तो सीमा ही नही है। उसकी ग्लानि का जो चित्रण तुलसीदास जी ने किया है, वह अत्यन्त मार्मिक है। सीता जी के साथ दोनो सरल भाइयो को देखकर 'कुटिल' कैकेयी जी भर कर पछता रही है और सोचती है कि पृथ्वी फट जाए तो वह उसमे समा जाए लेकिन जब वह पृथ्वी और यम से इसकी याचना करती है तब न तो पृथ्वी फटती है न मृत्यु ही आती है।[2] कैसी विधि-विडबना है इस अभागिनी रानी के जीवन मे! राम का तो कहना

१—रानी मैं जानी अयानी महा पवि पाहन हू तें कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥
ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरें कस प्रीतम लोग जियो है।
आंखिन में सखि राखिबे जोग इन्हे किमि कै वनवास दियो है॥

२—लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु विधि मीचु न देई॥

ही क्या है ! वे तो ऐसे सौम्य और शीलवान हैं कि चित्रकूट की वह सभा उनके प्रभाव से स्वर्गीय हो उठी है। आचार्य शुक्ल जी ने इस सभा को 'आध्यात्मिक' घटना कहा है। यह उचित ही है, क्योंकि धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना अन्यत्र नहीं देखी जा सकती। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामाता, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सम्य और असम्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म-गाभीर्य और भावोत्कर्ष के कारण अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ है।

रामचंद्र जी सीता-हरण पर जब विरह-व्याकुल होकर 'खग-मृग' और 'मधुकर-श्रेनी' से सीताजी का पता पूछते हैं तब कौन सहृदय होगा जो उनके आंसुओं में अपने हृदय के रस को न मिलाए।[1] विरह की उस कातर पुकार के कारण मानव-हृदय अपने प्रभु को अपने निकट पाता है। राम का वही विलाप क्यों, उससे भी अधिक आप लक्ष्मण को शक्ति लगने का प्रसंग लीजिए। भाई की मृत्यु पर वे विकल हो रहे हैं, रो रहे हैं, परन्तु वहां ध्यान है तो अपने शरणागत बंधु विभीषण का। उनकी इस दशा पर कौन हृदय की पीड़ा की धारा को रोक सकता है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मो पर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर संकट हौं, तज्यो लखन सो भ्राता।
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे॥
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें कवि-कुल-गुरु तुलसी

१—हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

की भावुकता का सार है । शृंगार की दृष्टि से तुलसी के काव्य का अलग ही महत्त्व है । उन्होंने मर्यादा का वहा भी पालन किया है और ऐसा कौशल दिखाया है कि कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य करना पडता है । सीता, राम और लक्ष्मण वन जा रहे हैं । मार्ग मे ग्राम-वधुए एकत्र हो जाती हैं, उनके दर्शनो के लिए । वे सीता जी से राम के विषय मे पूछती हैं कि उनका उससे क्या सबध है ! सीता जी की उस समय की मनोदशा का सजीव चित्र खीचते हुए कवि ने लिखा है—

सुनि सनेहमय मजुल बानी । सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी ॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी ॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदनु बिधु अचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खजन मजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि ॥

सीता के अतिरिक्त इतनी मर्यादा कहा मिल सकती है ? ऐसे अनेक अवसरो पर तुलसीदास जी को अपने सिद्धात की रक्षा के लिए न जाने कितने सयम से काम लेना पडा होगा ? उनकी ही प्रतिभा से यह सभव हो सका कि सर्वत्र वे मर्यादा की रक्षा कर सके ।

वस्तुत तुलसीदास जी बडे कुशल मनोवैज्ञानिक थे । मानव प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनो का अध्ययन उन्होने बडी सूक्ष्म दृष्टि से किया था । यही कारण है कि उनके सभी पात्र अपने अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं । राजा प्रजा, स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष, माता पिता, पुत्र-पुत्रवधू सभी के आदर्श उनके पात्रो मे सजीव हो गए हैं ।

इसके अतिरिक्त वे रस सिद्ध कवीश्वर थे । सभी रसो, गुणो और काव्य की शक्तियो के उदाहरण उनकी रचना मे मिल सकेंगे । उनसे पहले काव्य की जितनी भी शैलिया प्रचलित थी, उन सब का उन्होंने उपयोग किया है । चारणो की छप्पय की शैली, कबीर आदि की दोहे की शैली,

जायसी की दोहा-चौपाई की शैली, विद्यापति, सूर आदि की पद-शैली, गग आदि भाटो की कवित्त-सवैया शैली, सभी का उनकी रचना मे समावेश है। छद-अलकारो का स्वाभाविक और प्रवाहानुकूल चयन स्वत ही हो गया है। इस सब का कारण है—उनका भाषा पर अधिकार। गोस्वामी जी की भांति भाषा पर अधिकार रखनेवाले कवि बहुत कम हुए हैं। उनकी सरलता और लोकप्रियता का यह भी एक कारण है। ब्रज और अवधी में तो उन्होंने रचना की ही है, अन्य भाषाओ के शब्द भी अपने-आप उसमे आ गए हैं। वे शब्द हिंदी के ही हो गए हैं। गीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका आदि ब्रज भाषा की रचनाओ और रामचरितमानस, बरवै-रामायण, जानकी-मगल आदि अवधी की रचनाओ मे अरबी, फारसी के शब्द सैकडों ही मिल जाएगे। उनकी अवधी भाषा जायसी की अपेक्षा अधिक सस्कृत है और उसमे अवधी का साहित्यिक रूप निखर आया है। तुलसीदास जी ने भाषा का ऐसा रूप रामचरितमानस मे दे दिया कि फिर किसी कवि ने लेखनी उठाने का साहस न किया। भाषा ही क्या, विषय का भी उन्होंने ऐसा सम्यक् विवेचन किया है कि फिर कोई कवि उसपर उतने अधिकार के साथ लेखनी न उठा सका और केशव आदि ने साहस किया भी तो वह बात न आ पाई, जो तुलसीदास मे थी। उन्होने काव्य-कला की भी चरम परिणति अपने काव्य मे कर दी। उनसे पहले शुद्ध साहित्य-निर्माण बहुत कम हो पाया था। चारण-काल मे तो काव्य की भाषा का रूप ही स्थिर नहीं हो पाया था। सन्त-साहित्य म केवल ईश्वर की वदना और छायावादी ढग पर सकेतात्मक उक्तिया ही अधिक रहीं, जिनमे साहित्य की ओर ध्यान कम था। कृष्ण-काव्य में अभी साहित्यागो का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था। अत तुलसी द्वारा ही साहित्य की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सारांश यह है कि तुलसीदास जी महान् स्रष्टा थे। साहित्य के लिए

मानव-हृदय की जिस गहरी भावुकता की आवश्यकता है वह उन्हें प्राप्त थी, इसीलिए वे अन्तस्तल के भावों के कुशल चित्रकार हो सके। वे भावों के पुजारी थे और यह भाव-पूजा उन्हें राम के प्रति अनन्य विश्वास से मिली थी। राम के प्रति उनका प्रेम-विश्वास चातक की भाँति दृढ था। ऐसे अनन्य भावुक उपासक के हृदय से फूटी वाणी मे ही वह शक्ति हो सकती थी, जो मृत-प्राय जाति को बल प्रदान कर उसके शुष्क और निराश जीवन में सजीवता और सरसता लावे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रंथ मे तुलसीदास जी को प्रतिनिधि कवि मानते हुए हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है और कहा है, "तुलसी के 'मानस' से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रंक, धनी-दरिद्र, मूर्ख-पंडित, सब के हृदय और कंठ मे सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने जीवन में राम को साथ पाता है। संपत्ति में, विपत्ति मे, घर मे, वन मे, रणक्षेत्र मे, आनन्दोत्सव मे, जहा देखिए वहा राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू-जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू-जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति मे धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म मे उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानव-जीवन में महत्त्व का अनुभव करती है।"

आचार्य की इस सम्मति से हम अक्षरशः सहमत हैं। हमारी दृष्टि में भी तुलसीदास का स्थान हिन्दी-साहित्य मे सर्वोत्कृष्ट है और वे हमारे साहित्य

के प्रतिनिधि कवि हैं, जिनकी जीवन के सभी क्षेत्रो तक पूरी-पूरी पहुच है। उनमे भारतवर्ष का भूत, वर्तमान और भविष्य झाकता है। वे हमारे साहित्य के शृगार हैं और हम उन्हे पाकर गौरवान्वित है। वे यशस्वी और अमर कलाकार हैं और जब तक हिंदी भाषा और साहित्य जीवित है तुलसीदास की वाणी भी जीवित है, वह अजर-अमर है।

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

२

तुलसी-साहित्य में उनके जीवन का प्रतिबिम्ब

साहित्य की सर्वमान्य परिभाषाओं में मैथ्यू आर्नल्ड की परिभाषा 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः जब साहित्यकार साहित्य-सृजन के लिए तैयार होता है तब वह अपने व्यक्तित्व को विश्व में लय कर देता है और उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों विश्व की अनुभूति और अभिव्यक्ति का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर लेती हैं। जो साहित्यकार जितना ही महान् होगा उसका व्यक्तित्व उतना ही व्यापक और विस्तृत होता चला जाएगा। उसके द्वारा प्रस्तुत कृतियों में उसे खोज पाना सरल भी होगा और कठिन भी। सरल तो इसलिए कि उसकी अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली विशिष्टता लिए हुए होने के कारण स्वप्न में भी व्यक्ति की पकड़ से बाहर नहीं हो सकती और कठिन इसलिए कि कोई विचार या भाव, जो उसके काव्य में किसी पात्र-विशेष या अवसर-विशेष पर अभिव्यंजित हुआ है, निश्चित रूप से उसीका है, यह कहना एकदम सही नहीं भी हो सकता है। सारांश यह कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपनी वैयक्तिक इच्छा-अभिलाषा को विश्वबन्धुत्व अथवा विश्वकल्याण की भावना में लय कर देता है इसलिए उसके साहित्य में उससे सम्बन्धित बातों की खोज करना अत्यन्त कठिन और दुस्साहस का कार्य है।

विश्व के महानतम साहित्यकारों के व्यक्तिगत जीवन और चरित्र के सम्बन्ध में आज तक साहित्य के अध्येता अन्धकार में ही हैं। इसका

एकमात्र कारण यही है कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का प्रकाशन या तो किया ही नहीं है और यदि किया भी है तो इतनी न्यून मात्रा में कि उस आधार पर उनके जीवन की कोई ठोस रूपरेखा निर्मित नहीं हो सकती। ऐसे निजी उल्लेखों के अभाव में उनकी ख्याति और महत्ता का लाभ उठाकर अनेक जनश्रुतियां प्रचलित होती गई हैं और कल्पित जीवनचरित लिखे जाते रहे हैं। इससे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ने की अपेक्षा अनेक भ्रांतियों ने जन्म लिया है, जिससे उनके जीवन का कृतियों के आधार पर प्राप्त वास्तविक विवरण भी धुंधला हो गया है। उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत्, गुरु, पारिवारिक जीवन, मृत्यु-तिथि आदि के विषय में एक नहीं अनेक मत प्रचलित हो गए हैं। चामत्कारिक प्रसंगों ने तो उनकी रही-सही प्रामाणिकता को भी चौपट कर दिया है। विश्व के कृती साहित्यकारों में होमर, गेटे, दांते, शेक्सपियर, मिल्टन, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि में से कौन ऐसा है जो भ्रांतियों के घटाटोप के नीचे न दबा हो। इन ऋषि-तुल्य मनीषियों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उनकी विनम्रता और आत्म-निषेध की महान् प्रवृत्ति का यह दुष्परिणाम होगा, अन्यथा वे भी आज ऐरे, गैरे, नत्थू, खैरे कवियों की भांति सौ पृष्ठ की रचना में अपना पचा पृष्ठ का वक्तव्य जोड़ने की कला को अवश्य अपनाते। हिन्दी के ही नहं अन्य प्रान्तीय भाषाओं के मध्यकालीन कवियों के जीवन की घटनाएं इसी प्रकार अविदित हैं—चंडीदास, विद्यापति, तुकाराम, कबीर, सूर तुलसी, कौन सा ऐसा कवि है जो इस कठिनाई से मुक्त हो और अप विषय में आज के पाठक को सही जानकारी दे सके ?

तो फिर ऐसे मानव-हितैषियों का जीवन क्या दन्तकथाओं औ कल्पित चरित्रों से ही जाना जा सकता है ? यह प्रश्न है जो किसी भी आस्थावान् अध्येता को विकल किए बिना नहीं छोड़ता। हमारी विनम्र सम्मति में इसका उत्तर यह है कि कवि अथवा कलाकार अपनी कृतियों में बराबर प्रतिबिम्बित होता रहता है। सच्चे साहित्यकार का जीवन

उसके साहित्य से भिन्न नहीं हो सकता। हिन्दी में महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जीवन इस दृष्टि से विचारणीय है। उनका साहित्य उनके जीवन की एक एक घटना को मुखर कर देता है, फिर वह चाहे 'सरस्वती'-सम्पादक द्वारा उनकी प्रथम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'जुही की कली' सधन्यवाद वापिस कर देने की बात हो या अपनी प्यारी बेटी सरोज की उचित उपचार के अभाव में मृत्यु हो जाने की या गांधी जी के समक्ष हिन्दी का पक्ष लेकर तनकर खड़े होने की। व्रज-कोकिल प० सत्य-नारायण 'कविरत्न' ने अपनी आधुनिका पत्नी को लक्ष्य करके ही 'बस अब नहिं जात सही' अथवा 'भयो क्यो अनचाहत को सग' जैसी रचनाएं दी थी। कबीर की सहज साधना जिस स्थाने पर सिद्धि की प्राप्ति के रूप में सफल हुई थी वह उनकी कविता में पारदर्शी शीशा बन गई है। घनानन्द और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन के मूल मार्मिक तथ्यों का उद्-घाटन उनकी रचनाओं द्वारा ही हुआ है। प्रेमचन्द तो अपनी रचनाओं और जीवन-विकास के क्रम में समानान्तर ही चलते दिखाई देते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि सच्चे साहित्यकार की रचनाएं उसके जीवन की अनेक मूल्यवान् बातों की ओर सकेत करती रहती हैं। महाकवि तुलसी के विषय में भी यह कथन अक्षरशः सत्य है।

देखना यह है कि तुलसी-साहित्य में उनके जीवन का प्रतिबिम्ब किस-किस रूप में पड़ा है। सुविधा की दृष्टि से हम उसे दो भागों में विभाजित करेंगे—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष से अभिप्राय उनके द्वारा अपने जन्म, माता पिता, पुत्र-कलत्र रोग-शोक, आनन्द-उल्लास, रुचि अरुचि, मृत्यु आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख से है और अप्रत्यक्ष से अभिप्राय उन सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक सूत्रों से है, जिन्हें पकड़कर उन्होंने अपने काव्य का भव्य भवन खड़ा किया है। यद्यपि अप्रत्यक्ष का अक्षरशः सम्बन्ध उनके जीवन से नहीं है क्योंकि विषय-विशेष पर व्यक्त विचार किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के भी हो सकते हैं, तथापि उनकी अभिरुचि के स्पष्टीकरण वाले ऐसे अनेक स्थल

हो सकते है, जिनमे वह स्वय मूर्त हो उठे हो। किसी पूर्वप्रयुक्त कथा तत्त्व को अपनी दृष्टि से परिवर्तित कर देने मे भी उनकी निजी रुचि-अरुचि ही मूल प्रेरक शक्ति रही है। अत अप्रत्यक्ष रूप से जीवन का प्रतिबिम्ब भी उल्लेख्य है। बिना उसके उनके जीवन की सम्पूर्णता का दर्शन नही हो सकेगा। शरीर के साथ आत्मा का सौंदर्य जैसे सौंदर्य की परिपूर्णता है वैसे ही जीवन की स्थूल घटनावली के साथ भावो का सौदर्य किसी साहित्यकार के जीवन-सौंदर्य की परिपूर्णता है।

सर्वप्रथम हम उनके जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर दृष्टिपात करेंगे। इस दृष्टि से उनके लिखे हुए बारह सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थों मे से चार का विशेष महत्त्व है—कवितावली, विनयपत्रिका, दोहावली और रामचरितमानस। जैसा कि हम आगे देखेंगे इन ग्रन्थो से उनके जीवन की अनेक बातो पर प्रकाश पडता है।

महात्मा तुलसीदास का नाम या तो रामबोला था या तुलसी। 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' की साक्षी के आधार पर उनका नाम रामबोला जान पडता है।[1] लेकिन बरवै रामायण के आधार पर उनका नाम तुलसीदास आरम्भ से ही मिलता है।[2] रामचरितमानस की एक अर्द्धाली मे जहा उनकी माता का नाम हुलसी दिया है वहा भी उनका

१—(क) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
—विनयपत्रिका, छन्द ७६

(ख) साहिबु सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो
रामबोला नामु हौं गुलामु रामसाहि को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १००

२—केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास।
—बरवै रामायण, छद ५६

नाम तुलसीदास आया है।[1] इस प्रकार उनको अनेक ग्रंथों के आधार पर रामबोला या तुलसीदास दो नामों से ही पुकारा जाता था। आरम्भ मे राम की भक्ति के प्रति रुचि होने से रामबोला नाम पड़ा होगा और बाद मे वे तुलसीदास कहलाए होगे।

तुलसीदास के साथ गुसाईं जुड़ने के सम्बन्ध मे हनुमानबाहुक मे लिखा है कि तुलसीदास गुसाईं होकर के अपने बुरे दिनों को भूल गया है।[2] साथ ही कवितावली मे भगवान् से प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा है कि आज तक तो नाम से निर्वाह हो गया है और आगे गुसाईं का स्वामी उनकी रक्षा करेगा।[3] विनयपत्रिका मे भी गुसाईं शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]।

महात्मा तुलसीदास के ग्रंथो मे अपने माता-पिता के विषय मे विशेष नही लिखा गया। केवल एक अर्द्धाली प्रयुक्त की जाती है, जिसके आधार पर उनकी माता का नाम हुलसी कहा जाता है। मानस के बालकाण्ड मे रामकथा की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने 'रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।।' लिखकर इसी ओर सकेत किया है। मानस के इस साक्ष्य का समर्थन उनके समकालीन और स्नेही

---

[1]—रामहि प्रिय पावन तुलसी सी।
तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

[2]—तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो।

—हनुमानबाहुक, छन्द ४०

[3]—नामके प्रताप बाप आजु लौं निबाहि नीके
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजान है।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ८०

[4]—मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच संक
हौंहूँ किये कहौं सौंह साँची सिय पिय की।

—विनयपत्रिका, छन्द ७६२

मित्र खानखाना अब्दुर्रहीम ने भी किया है।[1] इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अपनी माता को छोड़कर शेष परिवारी जनों—पिता, पत्नी या पुत्रादि—के विषय में तुलसीदास जी ने अपने ग्रन्थों में कोई बात नहीं लिखी अतः आज तक विद्वान् और मानस-प्रेमी इस दिशा में अंधकार में ही हैं। हां, उन्होंने अपने गुरु के विषय में अवश्य मानस के प्रारम्भ में यह कहा है कि उनके गुरु नरहरिदास जी थे।[2]

'तुलसी-दर्शन' के लेखक डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने इस विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"हमारी समझ में गोस्वामी जी ने किसी अनित्य मर्त्य के बदले एक नित्य को ही अपना सच्चा गुरु माना है। 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर-रूपिणम्' का नित्य शब्द यही संकेत कर रहा है। नरहरिदास की अनुपस्थिति में भी गोस्वामी जी गुरु-पदरज से अपने लोचन आंजने की बात लिखते हैं। उन्होंने स्पष्टतया नरहरिदास जी या और किसी नामधारी व्यक्ति को अपना गुरु भी स्वीकार नहीं किया है। रामचरित-मानस में केवल एक जगह 'बन्दउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नररूपहरि' लिखा हुआ मिलता है। जिससे नरहरिदास का नाम ध्वनित हो रहा है। परन्तु इस पंक्ति का 'हरि' पाठ भी संदिग्ध ही कहा जाता है क्योंकि एक तो उस स्थान के सब सोरठों के रूप के अनुसार 'निकर' के साथ 'हर' का तुक होना चाहिए न कि 'हरि' का और दूसरे, श्रावण कुञ्ज में रखी हुई बालकाण्ड की प्राचीन प्रति में, कहा जाता है, 'हर' पाठ ही था, जो पीछे हरताल लगाकर 'हरि' के रूप में परिवर्तित किया गया है। इन सब बातों से विदित होता है कि रामवचन की महिमा के प्रथम प्रचारक

१—सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

२—बन्दउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

के नाते भगवान् शकर ही को गोस्वामी जी अपना वास्तविक गुरु मान रहे हैं। यद्यपि उन्होंने अपने बाल्यकाल के उपदेशक को भी, जो बहुत करके कोई स्मार्त वैष्णव स्वामी नरहरिदास जी थे, उस अनमोल शिक्षा ही के नाते 'निज गुरु' का आदर दे दिया है।"

तुलसीदास जी का जन्मस्थान सूकर क्षेत्र या सोरो था यह बात अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत।
समझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥

हिन्दी के वे विद्वान् जो तुलसी पर काम करते रहे हैं, राजापुर (बादा) को उनकी जन्मभूमि मानते रहे है परन्तु यह हठधर्मी है। निश्चय ही वे सोरो (शूकर क्षेत्र) के निवासी थे। श्री रामदत्त भारद्वाज ने तुलसी का परिवार नामक[1] पुस्तक मे अनेक प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध किया है कि सोरो ही तुलसी की जन्मभूमि थी।

महात्मा तुलसीदास जी की जाति के सम्बन्ध म भी मतभेद है। कोई उन्हे सरयूपारी, कोई सनाढ्य और कोई कनौजिया बताते है। स्वय तुलसीदास जी ने इस विषय मे जो कुछ लिखा है वह परस्पर-विरोधी कथन सा प्रतीत होता है। कभी तो वे कहते हैं कि मेरी कोई जाति-पाति नही है और न मैं किसीके काम का हू और न कोई मेरे काम का है।[2] कभी कहते हैं कि लोग यदि मुझे बुरा कहते हैं तो कहा करें, मुझको इसका कोई दुख नही है क्योकि न तो मुझे ब्याह-शादी करनी है न मैं

१—नेशनल इनफरमेशन ऐण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई से प्रकाशित इस पुस्तक मे विस्तार से सप्रमाण तुलसी का जन्मभूमि पर विचार किया गया है।

२—मेरें जाति पाँति न चहौं काहूकी जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहूके काम को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १०७

जाति-पाति ही चाहता हू।[1] कभी वे कहते हैं कि मैं तो भिखारी के कुल मे जन्मा हू और मेरे जन्म से ही माता-पिता दुखी हो उठे थे।[2] कभी वे यहा तक कह उठते हैं कि मुझे कोई धूत कहो या अवधूत कहो, राजपूत कहो या जुलाहा कहो, मुझे कौन किसीकी बेटी से बेटा ब्याहना है जो किसीकी जाति बिगाडने का पाप लगेगा। मैं तो राम का गुलाम हू। जिसे जो दीखे सो कहो, मैं तो मागकर खाता हू और मसजिद मे सोता हू। न लेना एक न देना दो।[3] इन सब से ऐसा प्रतीत होता है, वे छोटे कुल मे जन्मे थे। लेकिन जब वे यह कहते हैं कि 'भलि भारत भूमि, भलें कुल जन्मु, समाजु, शरीरु भलो लहि कै'[4] या 'यह भरतखड समीप सुरसरि, थल भलो सगति भली'[5] या 'दियो सुकुल जनम, सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि कौ',[6] तो लगता है कि वास्तव मे वे उच्च कुल मे जन्मे थे और लोगो से परेशान होकर ऐसी बातें करते थे, जिनसे वे सब से अलग समझे जाए। आज भी जब कोई व्यक्ति, चाहे वह कितने ही ऊचे कुल मे जन्मा हो, अपने समाज से भिन्न पथ अपनाता है और कुछ प्रतिष्ठा

१—लोग कहै पोच सो न सोच न सकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाति न चहत हौं।
—विनयपत्रिका, छन्द ७६

२—जायो कुल मगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परितापु पापु जननी जनक को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७३

३—धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
मागि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को एकु न दैबे को दोऊ॥
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १०६

४—कवितावली —उत्तरकाण्ड, छन्द ३३
५—विनयपत्रिका छन्द १३५
६— " "

प्राप्त कर लेता है तो लोग उसे ईर्ष्यावश बुरा-भला कहते है। वह उन लोगो को सफाई न देकर ऐसी ही बातें करता है, जिससे अपने को रूढि-वादी समाज से अलग करके गर्व के साथ खडा रह सके। महात्मा तुलसीदास ने भी समाज के लोगों के प्रहार झेले थे और उनसे अपने को बचाने के लिए ही ऐसी बातें कही थी अन्यथा वे उच्च ब्राह्मण कुल मे ही उत्पन्न हुए थे। वह सारा ब्राह्मणवाद जिसके लिए आज के तथा-कथित प्रगतिवादी उन्हे पानी पी-पीकर कोसते है और जिसपर वर्णा-श्रम सस्कृति का महल खडा है इनके ब्राह्मण-कुल मे जन्म लेने का सबसे बडा प्रमाण है।

लेकिन तुलसीदास जी भले ही उच्च कुल म जन्मे हो, उनका बाल्य-काल अत्यन्त दु खमय बीता। ऐसा लगता है कि उनके माता-पिता ने उनको जन्म होते ही छोड दिया था और उन्होने जाति-कुजाति के टुकडे खा खाकर अपने को जीवित रखा था।[1] ऐसी दशा मे उनको द्वार-द्वार दैन्य प्रदर्शन करना पडा[2], और चार चनो को चार फल मानना पडा।[3] उनकी स्थिति यह थी कि उन्होने खीची भर अन्न मागकर खाया था और

---

[1]—(अ) मातु पिता जग जाइ तज्यो, विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादरभाजन, कादर, कूकर-टूकन लागि ललाई॥
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ५७

(आ) तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हू।
—विनयपत्रिका, छन्द २७५

(इ) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाये टूक सबके, विदित बात दुनी सो।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७२

[2]—द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहू।
—विनयपत्रिका, छन्द २७५

[3]—बारेतें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७३

राम के भरोसे ही जिए थे[1] और की तो बात ही क्या है दु:ख भी उनको देखकर दु:खी हो ऐसी कठिन परिस्थिति में वे रहे थे।[2] यही कारण था कि वे स्वावलम्बी हो गए थे। उनका स्वभाव ही ऐसा बन गया था कि न भाई-बन्दो का भरोसा करते थे न किसीसे दुश्मनी करते थे। वे तो उसीको अच्छा समझते थे जो राम नाम से सम्भव होता था।[3] 'सिया-राममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।' से भी यहा निष्कर्ष निकलता है कि वे अपनी कठिन परिस्थितियों के कारण राममय हो गए थे। राममय होने की स्थिति उत्पन्न होने का कारण उनके गुरु थे। जिन्होंने बार-बार उनसे रामकथा कही थी और जिसे उन्होंने बालमति के अनुसार कुछ-कुछ समझा था।[4]

अब प्रश्न यह है कि गोस्वामी जी ने गार्हस्थ्य जीवन बिताया था या नही? जनश्रुति के आधार पर तो यहां तक माना जाता है कि उनको वैराग्य ही उनकी पत्नी की फटकार से हुआ था, परन्तु यहा हम

१—खाई खोंचा मांगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे।
—विनयपत्रिका, छन्द ३३

२—दियौं ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहिं हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे॥
—विनयपत्रिका, छन्द २२७

३—भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरी हू सों,
बलु अपनो न, हितू जननी न जन को।
◇ ◇ ◇
राम ही के नाम तें जो होइ सोइ नीको लागै,
ऐसोइ सुभाउ कछु तुलसी के मन को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७७

४—तदपि कही गुरु बारहिंबारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

जनश्रुति या बाहरी साक्ष्य का आधार नहीं ले सकते। वह हमारे विषय के बाहर की बात होगी। हमें तो उनके ग्रन्थों से ही उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर प्रकाश डालना है। अस्तु।

यदि हम रामचरितमानस या तुलसी की विनयपत्रिका अथवा कवितावली के उत्तरकांड को गम्भीरता से देखें तो पता चलेगा कि गार्हस्थ्य-धर्म और वैराग्य का जैसा वैज्ञानिक चित्र उन्होंने अंकित किया है वैसा और कोई कवि कर ही नहीं सका। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने गृहस्थ-जीवन के उतार-चढ़ाव देखे थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शृंगार के जिस मर्यादावादी स्वरूप का उद्घाटन राम-सीता के प्रसंग में हुआ है अथवा 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी' की जो स्पष्टोक्ति वर्षा-वर्णन में आई है वह उनके गृहस्थ-जीवन और नारी के प्रति अत्यधिक आकर्षण के परिणामस्वरूप दिए गए महत्त्व की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वैसे उन्होंने 'हम तो चाखा प्रेमरस पत्नी के उपदेश' कहकर इसे स्वीकार कर लिया है कि उन्होंने विवाह किया था। 'हनुमानबाहुक' में उन्होंने यह भी कहा है कि बचपन में सरल स्वभाववश राम की शरण में चला गया था पर मोहवश उस सम्बन्ध को तोड़ बैठा[1] और यों राम विमुख हो गए। अपनी इस आत्मग्लानि का और भी अच्छा स्पष्टीकरण उन्होंने विनयपत्रिका में किया है। वे कहते हैं कि कुछ भी न बन आया और जन्म व्यर्थ ही बीत गया। अत्यन्त दुर्लभ नर-जन्म मिला पर मन-वचन-कर्म से राम की भक्ति न कर सका। लड़कपन अचेतावस्था और चंचलता में चला गया। यौवन-रूपी ज्वर में युवती-रूपी कुपथ्य का सेवन किया इससे त्रिदोष पूर्ण काम-वायु ने घर

१—बालेपन सूधेमन राम सनमुख भयौ
राम नाम लेत मांगि खात टूक टाक हौं।
पर्यो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राम
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं॥
—हनुमानबाहुक, छन्द ४०

दबाया।[1] जाति-पाति को अस्वीकार करने की उनकी वृत्ति भी गृहस्थ-जीवन के झंझटों की ही सूचक है।

यों तो तुलसीदास की परिस्थिति ही विरक्त होने की थी पर वे मोह में फंस ही गए, यह हम देख चुके हैं। एक बार मोहग्रस्त होकर जब वे फिर बन्धन-मुक्त हुए तो ऐसे कि फिर राम के ही होकर रहे। भोग-विलास और विषय-वासना के चक्र में फिर उन्हें कोई रस ही न रहा। गृहस्थ-जीवन का त्यागकर उन्होंने देश का पर्यटन किया और तीर्थों की खाक छानी। यह सब उनके अगाध ज्ञान के आधारस्वरूप विविध ग्रंथों से स्पष्ट है। देश में उन्हें दो स्थान-विशेष प्रिय थे, एक तो चित्रकूट और दूसरा काशी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकूट में उनके ज्ञानचक्षु खुले थे। विनय-पत्रिका में उन्होंने अपने मन से कहा है कि तू अब चेत और चित्रकूट चल। ऐसे कलि-प्रभावित समय में जहां कल्याणपथ लुप्त है और मोह-माया-मल बढ़ रहा है रामपद अंकित इस पुण्यभूमि को देख। वह वन राम का विहार-स्थल है।[2] उनकी सम्मति में यदि राम में सच्चा स्नेह

१—कबहुँ न आय गयो जन्म जाय।
अति दुरलभ तन पाइ कपट तजि
भजे न राम मन बचन काय।
लरिकाई बीती अचेत चित
चंचलता चौगुन चाय।
जोबन जुर जुबती-कुपथ्य करि
भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥
—विनयपत्रिका, छन्द ८३

२—अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि लोपित मंगल मगु बिलसत बढ़त मोह माया मलु।
भूमि बिलोकु राम पद अंकित बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु॥
—विनयपत्रिका, छन्द २४

चाहिए तो प्रेमपूर्वक चित्रकूट मे निवास करना चाहिए।[1] इसका कारण यह है कि व्यर्थ वन, पर्वतो पर भटका, बिना अग्नि के जला पर चित्रकूट जाने पर ही कलियुग की कुचाल का दर्शन हो सका।[2] वही उनको अपने प्रभु की सरस झाकी मिली।[3]

काशी तो कवि को अत्यधिक प्रिय ही थी। अपने जीवन का उत्तरार्द्ध उन्होने काशी मे ही बिताया और काशी मे ही उनका शरीरान्त हुआ। उन्होने काशी के विषय मे कहा है कि कलियुग मे कामधेनु के समान काशी मे स्नेहसहित यथाशक्ति रहना चाहिए,[4] जो पृथ्वी मे मुक्ति की देने वाली है, ज्ञान की खान है और पापो को हरने वाली है। जहा शम्भु-भवानी रहते हैं, उस काशी मे क्यो न रहा जाए।[5] काशी मे रहते हुए महाकवि को रोग-शोक ने भी घेरा था। प्लेग का वर्णन करते हुए उन्होंने भगवान् शिव से प्रार्थना की है कि तुम्हारा यश सुनकर मैं यहा आया हू। अब मुझे या तो नीरोग करिए या मरकर काशी-वास

१—तुलसी जौ राम सों सनेहु साचो चाहिए तौ
सेइये सनेह सों विचित्र चित्रकूट सो।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १४१

२—अनिगिनत गिरिकानन फिर्‌यो बिनु आगि जर्‌यो हो।
चित्रकूट गये हो लखी कलि की कुचालि सब अब अपडरनि डरयो हो॥

३—तुलसी तो को कृपालु जो कियो कोसलपालु
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो।
—विनयपत्रिका, छन्द २६४

४—सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक सताप पाप रुज सकल सुमगल रासी।
—विनयपत्रिका, छन्द २२

५—मुक्ति जनम महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर।
जँह बस शम्भु भवानि सो कासी सेइय कस न॥
—रामचरितमानस

का सुफल प्राप्त करने दीजिए।[1] काशी की दुर्दशा से दुःखी होकर कवि भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि कलियुग ने काशी की कदर्थना कर डाली है।[2] इसलिए आप इसपर कृपा-कोर करके इसकी रक्षा कीजिए।[3] महामारी का वर्णन कवि ने बड़ा सजीव किया है। महामारी के कारण काशी के नर-नारी, पशु-पक्षी सब विकल हैं। सारा नगर ही महामारी से ग्रस्त हो गया है। जल-थल मृत्यु से व्याप्त है।[4]

चित्रकूट और काशी के अतिरिक्त तीसरा स्थान अयोध्या था। जो कवि को प्रिय था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस की रचना कवि

१—चेरो राम राइ को सुजस सुनि तेरो हर,
पाइ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।
◇ ◇ ◆
अभिमत बेदन बिसम होत भूतनाथ
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तौ अनायास कासीबास खास फल
ज्याइये तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १६६

२—हा हा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी
कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १८२

३—बासर ढासनि के ढका रजनी चहुँ दिसि चोर।
सकर निज पुर राखिये चितै सुलोचन कोर॥
—दोहावली, दोहा २३९

४—संकर सहर सर, नर नारी बारिचर
बिकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात
भभरि भगात जलथल मीचु मई है।
देव न दयालु महिपाल न कृपालु चित
बारानसीं बाढ़ति अनीति नित नई है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १७६

ने अयोध्या में ही की थी। यह निम्नलिखित चौपाई से प्रकट है—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

कवितावली में उत्तरकाण्ड के १२२वें छन्द की 'रावरे रीति आपनी जो होई सोई कीजै बलि। तुलसी तिहारो घर जायऊ है घर को॥' के आधार पर कुछ लोगों ने उनके अयोध्या में जन्म लेने का प्रमाण माना है। पर यह मुहावरे का प्रयोग है। किसीके प्रति आत्मीयता का प्रकाशन करने के लिए बहुधा कहा जाता है कि हम तो आपके ही हैं। ऐसे ही 'घर जायऊ है घर को' कह दिया गया है। इसमें और कोई तथ्य नहीं है।

काशी के कारण गंगा भी तुलसीदास जी को विशेष प्रिय थी। उन्होंने कहा है कि मैं गंगा-जल पान करता हूं और राम का नाम लेकर उदरपूर्ति करता हूं।[१] अन्यत्र भी अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर गंगा की प्रशंसा की है।

काशी में तुलसीदास जी को एक ओर शैवों ने सताया था तथा दूसरी ओर रोग-शोक ने दबाया था। शैवों के दुर्व्यवहार पर वे कहते हैं :

गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
अधि भौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥

—विनयपत्रिका, छन्द ८

१—(अ) भागीरथी जलुपान करौं
अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १०७

(आ) देवसरि सेवौं बामदेव गाउँ रावरेही
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १६५

कवितावली मे तो उन्होंने शैवो के दुर्व्यवहार से तंग आकर स्वयं काशीनाथ को भी चुनौती दे डाली है। वे कहते हैं कि मैं किसीसे कुछ कहता-सुनता नहीं और न लेता-देता हू, इतने पर भी यदि कोई आपकी धौंस मे मेरे ऊपर अत्याचार करे तो मैं उसको ठीक कर दूगा। फिर आप मुझे उलाहना न दें। हे काशीनाथ, मै पहले ही कहे देता हू—

दोबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं।
ए ते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वं जोर करे
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजो मोहि
कालकला काशीनाथ कहें निवरत हौं।

कवितावली, उत्तरकाड, छन्द १६५

तुलसीदास जी वृद्ध होकर गगा के तट पर आ बसे थे[1] और अपने शरीर की जीर्णावस्था म राम को सर्वस्व ही नही कामधेनु और कामतरु कहकर पुकारने म सुख अनुभव करते थे।[2] वृद्धावस्था तक तुलसीदास जी अपनी साधना मे अधिकाधिक लीन होते गए थे। ऐसा लगता है कि माया से लडते हुए मुक्ति के पथ पर चलने मे उन्हे बडी कठिनाई का अनुभव हुआ था। अपने जीव को उन्होंने बार-बार इस बात के लिए धिक्कारा है कि अन्तिम समय निकट आने पर भी यह जड जीव नही जाग रहा है।[3]

१—चेरो राम राइ को सुजस सुनि तेरो हर
पाइ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १६६

२—राम की सपथ सरबस मेरें राम नाम
कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १७८

३—जरठाइ दिसां रविकाल उग्यो अजहूं जड़जीव न जागहि रे।
—कवितावली उत्तरकाण्ड, छन्द ३१

अन्तिम समय तुलसीदास जी को रोग ने बुरी तरह धर दबाया था। उस रोग से व्याकुल थे महात्मा रोग से छूटने के लिए शिवजी, राम और हनुमान् तीन की ओर ही देखते हैं[1]। एक स्थान पर रोग के लिए 'बर-तोर' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि यह बालतोड़ का सूचक है। उसका फूट-फूटकर निकलना मानो रामराज्य का खाया हुआ नमक ही बाहर आता हो।[2] जो कुछ भी पीड़ा थी वह बड़ी भयकर थी। उससे उनका सारा शरीर ही पीड़ामय हो गया था।[3] ऐसे रोग से निवृत्ति भी एक बार हनुमान् जी ही की कृपा से हुई थी। बड़े हर्ष के साथ हनुमान् जी की प्रशंसा में वे कहते हैं कि रोगों की फौज उन्हीं के कारण भाग गई।[4]

१—रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को भूतनाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १६७

भारी पीर दुसह शरीर ते बिहाल होत सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करिकै।

—हनुमानबाहुक, छन्द ४२

साहसी समीर के दुलारे रघुबीरजू के, बाहुपीर महाबीर बेगिही निवारिये।

—हनुमानबाहुक, छन्द २०

महाबीर बाँकुरे बराकी बाँहपीर क्यों न लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोरि मारिए।

—हनुमानबाहुक, छन्द २३

आन हनुमान की, दुहाई बलवान की, सपथ महाबीर की जो रहै पीर बाँह की।

—हनुमानबाहुक, छन्द ३८

२—ताते तन पेखियत घोर बरतोर मिस, फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को।

—हनुमानबाहुक, छन्द ४१

३—पाँय पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर, जरजर सकल शरीर पीर मई है।

—हनुमानबाहुक, छन्द ३८

४—करुना निधान हनूमान महाबलवान,
　　　हेरि हँसि, हाँकि, फूँकि फौजें ते उड़ाई हैं।
खायो हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि,
　　　केसरी किसोर राखे बीर बरिआई हैं।

—हनुमानबाहुक, छन्द ३५

महात्मा तुलसीदास ने अपने जीवन में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ झेली थीं, यह उनके ग्रंथों में दिए गए संकेतों से स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने पर्याप्त यश अर्जन किया है। जो तुलसी वन की घास की भाँति थे वे भगवान् राम का नाम जपने के कारण तुलसीदास हो गए थे।[1] जिन्होंने कभी घर-घर टुकड़े माँगे थे वे अब राम की कृपा से राजाओं से पैर पुजाने वाले बन गए थे।[2] जो कभी गधे की सवारी करते थे अर्थात् अपदार्थ थे वे अब हाथी की सवारी करने लग थे अर्थात् प्रतिष्ठावान् हो गए थे।[3] राम ने उन तुलसीदास को, जो ऊसर भूमि के समान थे, उर्वर बना दिया था[4] और अपवित्र से पवित्र कर दिया था।[5] यद्यपि उन्हें पर्याप्त सम्मान मिल गया था तथापि वे अपने को अब भी वही समझते थे। एक सच्चे भक्त की भाँति वे राम से कहते हैं कि भले आपका

१—केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥
—बरवै रामायण, छन्द ५६

२—घर-घर माँगे टूँक पुनि भूपति पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय॥
—दोहावली, छन्द १०६

३—हौं तो सदा खर को असवार
तिहारोइ नाम गयन्द चढ़ायो।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ६०

४—पतित पावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥
—विनयपत्रिका, छन्द ६६

५—नाम सों प्रीति प्रतीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किये रावन रिपु तुलसिहु से अपत॥
—विनयपत्रिका, छन्द १३०

समर्थन पाकर पचो मे गौरव मिल गया हो पर मैं वही हू और आज भी आपका ही गुण गाकर पेट भरता हू ।[1]

अपनी रचनाओ मे से दो रचनाओं के काल की ओर भी तुलसीदास जी ने सकेत किया है । एक रामचरितमानस और दूसरी पार्वती-मगल । मानस के सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है कि सवत् सोलह सौ इकतीस, मधुमास मे मगलवार की नवमी को भगवान का स्मरण कर अयोध्या मे यह महाकाव्य रचा गया ।[2] दूसरी रचना जिससे रचनाकाल पर प्रकाश पडता है पार्वती मगल है ।[3] इसके अतिरिक्त अन्य किसी रचना मे उन्होंने काल की दृष्टि से कोई बात नही कही ।

अन्तिम समय मे तुलसीदास जी क्षेमकरी पक्षी का दर्शन करके स्वर्ग सिधारे । यह निम्नलिखित शब्द से प्रकट है—

> कुकुम रग सुअग जितो मुखचन्दसों चन्दसों होड परी है ।
> बोलत बोल समृद्धि चुवै अवलोकत सोच विषाद हरी है ॥
> गौरी कि गग विहगिनि बेष कि मजुल मूरति मोद भरी है ।
> पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है ॥
>
> —कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १८०

१—छार तें सवाँरि कै पहार हू तें भारी कियो,
गारो भयो पच मे पुनीत पच्छु पाइ कै ।
हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाइ कै कै,
पेट भरौं राम रावरोइ गुन गाइकै ।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छद ६१

२—सवत सोरह सै इकतीसा । करउँ कथा हरिपद धरि सीसा ॥
नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

३—जय सवत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु ।
अस्विनि बिरचेउ मगल सुनि सुख छिनु छिनु ॥
—पार्वती मगल, छन्द ५

उनका अन्तिम दोहा यह है :

रामनाम जस बरनि के भयउ चहत अब मौन ।
तुलसी के मुख दीजिये अबही तुलसी सोन ॥
—तुलसीसतसई

इससे स्पष्ट है कि मृत्यु के समय बड़े सन्तोष का अनुभव करते हुए ही वे गए। क्षेमकरी का शुभ शकुन भी उनके लिए मंगलसूचक ही हुआ।

अपने स्वभाव की विशेषताओं का उद्घाटन भी तुलसी ने यथास्थान किया है। वह भी प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब के अन्तर्गत ही आएगा। कारण, वहा तुलसीदास स्पष्टत उत्तम पुरुष में बात करते हैं और उसमें इतना अधिक अपनापन है कि उनके अतिरिक्त अन्य किसीको लक्ष्य करके यह बात कही ही नहीं मालूम पड़ती। अपने ग्रथो मे तुलसीदास ने इस दृष्टि से अपने दैन्य और आत्मग्लानि का अच्छा चित्र दिया है। दैन्य और आत्मग्लानि के कथनों की अधिकता के कारण कुछ लोगों मे विनय-पत्रिका के सम्बन्ध में तो यह मतभेद भी है कि ऐसे कथन क्या वास्तव में तुलसी के हैं या इस बहाने कलयुगी जीवो की मनोदशा का ही वर्णन उन्होंने किया है? जैसा कि आरभ में कहा गया है, कुछ कथन तो ऐसे हैं जो तुलसी के अतिरिक्त किसी और के हो ही नहीं सकते। जो ऐसे सीधे नहीं हैं, *उनके मूल में उनकी आत्मा का स्वर ही सुनाई देता है।* इस दृष्टि से प्रथम प्रकार के कथन जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब के अन्तर्गत आने चाहिए। उदाहरण के लिए ये महात्मा अपनी कविता के विषय में कहते हैं कि—मुझ भोरी मति वाले ने यह भाषा भनित की है। निश्चय ही यह हसने की वस्तु है। यदि कोई नहीं हसता तो यह उसकी कमी है।[1] मैं न कवि हू और न वचनप्रवीन। मैं तो समस्त कलाओं

१—भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

और विद्याओं से हीन हूँ।[1] मुझमें कवित-विवेक का नाम तक नहीं है। कोरे कागद लिखकर कवि कहलाने वाला मैं यह सत्य ही कह रहा हूँ।[2] —यह उस महाकवि की वाणी है जो विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में अग्रस्थान का अधिकारी है। काव्य, भक्ति और नीति की त्रिवेणी-स्वरूप जिसकी कविता की पावनता ने जग-जग को मुग्ध कर रखा है, वह ऐसी बात करता है, यह उसकी विनम्रता की पराकाष्ठा है। इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब वह अपनी रचना को बालविनय कहता है। और उसके द्वारा केवल रामचरण में रति की कामना करता है।[3] वे राम के उन वचक भक्तों में अपने को सर्वप्रथम रखने की बात कहते हैं जो वचन, क्रोध और काम के दास हैं।[4]

दैन्य भक्ति भी सप्त भूमिकाओं में से एक है पर उसकी जो चरम स्थिति तुलसी में है वह उनकी अपनी वस्तु है। अन्य कोई कवि इस दृष्टि से तुलसी की समता नहीं कर सकता। वे कहते हैं कि राम से कोई बड़ा नहीं है और मुझसे कोई छोटा नहीं है। राम से कोई खरा नहीं है तथा

१—कवि न होउँ नहिं बचन प्रबानू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

२—कवित विवेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

३—(क) कवि कोविद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बालविनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होउ कृपाल॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

(ख) संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालविनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

४—बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

मुझसे कोई खोटा नही है।[१] वे अपने को दगाबाज और वह भी परले सिरे का मानते हैं।[२] उनसे बडा निकम्मा, काहिल और कपूत शायद ही कोई हो।[३] राम के सहारे उनकी भले ही बन जाए अन्यथा वे धोबी के कुत्ते की तरह न घर के हैं न घाट के।[४] वे इतने अपवित्र और दुर्गुण-भरे हैं कि व्याध और वधिक भी उनकी छाह छूते डरते हैं।[५] आत्मग्लानि का इससे अच्छा उदाहरण नही मिल सकता। वस्तुत बात यह है कि ज्यो-ज्यो महान् आत्माए साधना के सोपान पार करती हुई सिद्धि के शिखर छूने को बढती जाती हैं, अपने दैन्य और आत्मग्लानि के द्वारा आत्मा मे जमे मैल के करण-करण से टूटने के लिए अपने को अधिकाधिक धिक्कार का पात्र समझती जाती हैं।

१—राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो, राम सों खरो है कौन मोसों कौन खोटो।
—विनयपत्रिका, छन्द ७२

२—(क) स्वारथ को साजु न समाजु परमारथ को
मोसों दगाबाज दूसरो न जगजाल है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ६५

(ख) नाम तुलसी पै भोंडो भाग तें कहायो दासु
कियो अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १३

३—(क) रामहू के द्वारे पै बोलाइ सनमानिअत
मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहली।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द २३

(ख) राय दसरथ के समर्थ तेरे नाम लिएँ
तुलसी से कूर को कहत जगु राम को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १४

४—तुलसी बनी है राम रावरें बनाएँ ना तो
धोबी कैसो कूकरु न घर को न घाट को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ६६

५—अपत उतार अपकार को अगारु जग
जाकी छांह छुएँ सहमत व्याध बाघ को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ६८

सामान्यत यह कहा जाता है कि पाप कहने से कम होता है लेकिन जहा पाप हो ही न वहा यदि अपने को पापी बताया जाए तो निश्चय ही शुचिता का शुभ्र रूप दीखने लग जाता है। तुलसीदास के साथ यही बात है। तीसरी वस्तु तुलसी के हृदय का आत्मविश्वास है। जो उनकी रचनाओ से प्रकट है। वे लाखो विघ्न-बाधाओ मे फसकर भी अपना पथ छोडने वाले न थे। सस्कृत के उस युग म सस्कृत के धुरधर पडितो के बीच अपने मन के प्रबोध के लिए जिसने रामचरित को भाषाबद्ध किया और रचमात्र भी इस बात की परवाह न की कि पडित मडली क्या कहेगी, उसकी दृढ इच्छा-शक्ति के विषय म साधारण व्यक्ति अनुमान भी नही लगा सकता। लेकिन यह दृढ इच्छा शक्ति, यह आत्मविश्वास जो तुलसीदास के जीवन को इतना ऊचा उठा गया, आया कहा से ? यह आया राम की भक्ति से। वे सब कुछ छोडकर केवल राम के होकर बैठ गए। अपनी दोहावली मे चातक चौंतीसी म उन्होंने चातक और घन का जो प्रतीक रखा है वह उनके आत्मविश्वास और दृढ इच्छा शक्ति का ही द्योतक है। उनका निम्नलिखित दोहा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

—दोहावली छन्द २७७

वस्तुत राम नाम के प्रेम और विश्वास के बल पर ही वे पाव पसार कर सोते थे।[1] वे उन्हीके भरोसे सुख से सोते थ। उनका स्वभाव ही ऐसा बन गया था कि जो कुछ हो सकता है वह राम के लिए ही हो

१—प्रीति रामनाम सों प्रतीति रामनाम का
प्रसाद रामनाम कें पसारि पाय सूति हौं।
—कविनावली, उत्तरकाण्ड, छद ६६

२—जागै भोगी भोग हीं, बियोगी रोगी सोग बस
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम क।
—कविनावली, उत्तरकाड, छद १०६

सकता है ।[1] राम की भक्तिरूपी भूमि मे उनकी मति दूब की तरह गहरी जड जमाए थी ।[2] इसीलिए वे न काल से डरते थे और न किसी और से भय खाते थे ।[3] वे तो बिना जानकीनाथ के किसीके हाहा खाने को भी तैयार न थे ।[4] कवितावली के उत्तरकाड मे उनका आत्मविश्वास जितना मुखर है उतना अन्यत्र नही । यो तो विनयपत्रिका मे भी उसकी झलक मिल जाती है पर विनयपत्रिका मे दैन्य वृत्ति की प्रधानता है और कवितावली मे आत्मविश्वास और दृढ इच्छा-शक्ति की। विनयपत्रिका मे उन्होंने जो कुछ कहा है वह गीतिकाव्य की कोमलता मे दबा है पर कवितावली मे ओज के साथ निखार लेकर उनका सशक्त हृदय काल की करालता को चुनौती देता खडा है ।[5]

दैन्य, आत्मग्लानि और आत्मविश्वास के साथ काव्य और भक्ति के क्षेत्र मे उतरने वाले महात्मा तुलसीदास ने राम के समक्ष अवश्य अपनी हीनता दिखाई है पर वे दुष्टो और खलों के सामने वेदविदित मार्गों से हटकर चलने वालो से हारकर आत्मसमर्पण करने वाले न थे । जैसा कि आचार्य पडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि लघुत्व की यह परमानुभूति परम महत्त्व के साक्षात्कार के कारण थी। अत लोक-व्यवहार के भीतर उसका जितना अश समा सकता था, इसका विचार भी हमे रखना पडता

१—रामरे ही नाम तें जो होइ सोइ नीको लागै
ऐसोइ सुभाउ कछु तुलसी के मन को ।
—कवितावली, उत्तरकांड, छद ७७

२—तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि, मेरी मति दूब है ।
—कवितावली, उत्तरकाड, छद १०८

३—तुलसी यहु जानि हिएँ अपनें सपनें नहि कालहु तें डरिहै ।
—कवितावली, उत्तरकाड, छद ४७

४—जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहौं न हहा है ।
—कवितावली, उत्तरकाड, छद १०१

५—देखिए विनयपत्रिका के छद १५३, १५४, १५५, १७२, १७४, १७६ आदि

है। दुष्टो और खलो के सामने उसकी इतनी मात्रा नही रह सकती थी, जो गोस्वामी जी को उन्हे दुष्ट और खल कहने तथा उनके स्वरूप पर ध्यान देने से रोक देती। इस स्वभावगत विशेषता के कारण वे खलो की खूब खबर लेते हैं।[1] वे उन्हे उन कौम्रो की श्रेणी मे रखते हैं जो प्रेम से पालने पर भी निरामिष नही होते।[2] जो उनकी हँसी उड़ाते हैं।[3] वे पाखडियो की बातें सुनते ही उनपर बरस पडते हैं और उन्हे ऐसे शब्दो से याद करने मे भी नही चूकते, जिनका प्रयोग उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। एक बार उन्होने अलख-अलख कहने वाले साधु को 'नीच' कहकर फटकारा था।[4]

महात्मा तुलसीदास अकबर के समकालीन थे। अकबर वह था जिसके दरबार मे नवरत्नो की छटा छिटकती रहती थी। यदि तुलसीदास चाहते तो अकबर के कृपापात्र वन सकते थे परन्तु वे नारायण-काव्य के लिए ही अवतरित हुए थे, नर काव्य के लिए नही। इसलिए उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी थी—

कीन्हें प्राकृतजन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

वे तो ऐसे ससारी जनो से सम्बन्ध-विच्छेद करके घूमते थे। ऐसो की परवाह करने वालो को बिना सीग-पूछ का पशु समझते थे। राम के दरबार मे ही जब वे सब कुछ छोडकर जा पडे थे तब और की चिन्ता भी

१—तुलसी-ग्रन्थावली, प्रथम सस्करण, तृतीय खड, पृष्ठ ६२

२—वायस पलिग्रहि अति अनुरागा।
होहिं निरामिष कबहुं कि कागा॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

३—खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कठ कठोरा॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

४—हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच॥

—दोहावली, छद १६

क्या करते ।[1] सच तो यह है कि उन्होंने स्वान्त सुखाय ही इस रघुनाथ-गाथा का सृजन किया और वह भी परम्परा से प्राप्त ब्राह्मणों की भाषा को छोड़कर जनता की भाषा में । "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।"

जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर विचार कर लेने के बाद अब तनिक अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर भी विचार कर लेना चाहिए । हम आरम्भ में कह चुके हैं कि अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब का वही अंश हम लेंगे जहां तुलसी के व्यक्तित्व की गहरी छाप होगी । यों कविता के विषयगत और विषयिगत या आपबीती और जगबीती नामक भेद किसी निश्चित विभाजक रेखा से अलग नहीं किए जा सकते, परन्तु फिर भी विषयगत या जगबीती में कुछ अंश विषयिगत या आपबीती का होना सम्भव है । वह तुलसी में भी है । उदाहरण के लिए हम सब से पहले काव्य की भाषा और भावों के सम्बन्ध में उनके विचारों को लेते हैं । उन विचारों को निश्चय ही हमें तुलसी के निजी विचारों के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा । उनके उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग मानना पड़ेगा ।

सर्वप्रथम वे काव्य के लक्ष्य पर दृष्टिपात करते हैं । उनकी दृष्टि से काव्य का लक्ष्य सर्वहित होना चाहिए—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

लेकिन यदि कोई कविता सब के लिए हितकर हो, लोग उसमें जीवन के लिए सबल पा सकें पर वह विद्वानों की दृष्टि से उत्कृष्ट न हो तो वह श्रेष्ठ कविता नहीं कही जा सकती । इसलिए मानस-रचना के साथ जो

---

[1] —कृपा जिनकी कछु काजु नहीं न अकाजु कछू जिनके मुख मोरें ।
करैं तिनकी परवाहि ते जो बिनु पूँछ बिषान फिरैं दिन दौरें ॥
तुलसी जेहि के रघुनाथ से नाथु समर्थ सुसेवत रीझत थोरें ।
कहा भव भार परा तेहि धौं बिचरै धरनी तिनसों तिनु तोरें ॥
—कवितावली, उत्तरकांड, छन्द ४८

वरदान कवि ने मागा है उसमे कला को नीति के साथ मिलाने का स्पष्ट सकेत कर दिया है—

होहु प्रसन्न देहु बरदानू । साधु समाज भनिति सनमानू ॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं । सो श्रम बादि बालकबि करहीं ॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

लेकिन ऐसी कविता जो एक साथ 'सुरसरि सम सब कँह हित' के तत्व को लिए हो और साथ ही 'साधु-समाज' तथा 'बुध जन' का आदर पा सके, बिना प्रभु की कृपा के सम्भव नही। मणि, माणिक और मुक्ता क्रमश सर्प, खान और गज के मस्तक मे जन्म लेते है पर वे शोभा पाते है राजमुकुट और तरुणी के शरीर मे। ऐसे ही श्रेष्ठ कविता की शोभा श्रोता या पाठक का सम्पर्क प्राप्त करके ही बढती है।[1] इस प्रकार महात्मा तुलसीदास न अपने काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यक्त करते समय उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष पर पूर्णरूपेण विचार किया है।

तुलसीदास की सहानुभूति स्वभावत दरिद्रो और दुखियो के प्रति थी। वे उच्च वर्ग की ओर नही देखते थे। यदि ऐसा होता तो अपने समकालीन केशव की भाति वे अवश्य कहीं राज्य-सा करते। यही कारण है कि वे बडे ही करुण और पश्चात्तापपूर्ण शब्दो मे समाज की दुर्दशा का चित्र अकित करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य इतना गिर गया है कि केवल पेट भरने की ही चिन्ता मे रहता है और उसके लिए धर्म-अधर्म ही नही करता बेटा-बेटी बेचने को भी तैयार रहता है।[2] ऐसे पतितो की

[1]—मनि मानिक मुकुता छवि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥
—रामचरितमानस, बालकाड

[2]—ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम हीतें आगि बड़वागितें बड़ी है आगि पेट की ।
—कवितावली, उत्तरकाड, छन्द ६६

स्थिति यह है कि वे हरिश्चन्द्र और दधीचि जैसे महान् व्यक्तियों को भी गाली देते हैं और अपने स्वार्थ साधन में ही लीन रहते हैं।[1] लेकिन इस दशा का कारण वे दरिद्रता को मानते हैं। वे कहते हैं कि न किसान को खेती है न भिखारी को भीख और न बनिये को बनिज। सब लोग जीविका-विहीन और दुःखी हैं और एक-दूसरे से पूछ रहे हैं कि कहां जाए और क्या करें?[2]

वर्णाश्रम की मर्यादा के प्रति तुलसी का अधिक झुकाव था। वे लोक-धर्म के समर्थक होने और दरिद्रनारायण के प्रति सहानुभूतिशील रहने पर भी अपने वर्णाश्रम-धर्म से एक इंच भी नहीं हटना चाहते थे। दोहावली में उन्होंने समाज की इस वैज्ञानिक प्रणाली के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर अत्यन्त दुःख प्रकट किया है। वे कहते हैं कि आज शूद्र ब्राह्मणों से बराबरी के लिए वादविवाद करते हैं और ब्रह्मज्ञानी बनते हैं।[3] भक्तों की दशा यह है कि कपोल-कल्पित कथाएं कह-कहकर भक्ति का निरूपण करते हैं और वेद-पुराणों की निन्दा करते हैं। वेद विदित हरि के मार्ग को छोड़कर नाना सम्प्रदाय खड़े किए जा रहे हैं। पावस के

१—गारी देत नीच हरिचन्द हू दधीचि हू को
आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है।
—कवितावली, उत्तरकांड, छन्द ९९

२—खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहां जाई का करी॥
—कवितावली, उत्तरकांड, छन्द ९७

३—बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि दिखावहिं डाटि॥
—दोहावली, छन्द ५५३

कारण कोकिल मौन है। अब दादुर बोलेंगे। हमें अब कौन पूछेगा।[1] कलियुग से पीड़ित होकर उन्होंने विनयपत्रिका की रचना की थी। विनयपत्रिका में उन्होंने लिखा है कि राज-समाज कुटिल है और नाना प्रकार की कुचालें चलता है। स्वेच्छाचारिता बढ़ गई है। वर्णाश्रम-धर्म नष्ट हो गया है और मर्यादा की कोई चिंता नहीं करता, प्रजा पतित और पाखण्डरत है, शान्ति और सत्य के स्थान पर अशान्ति और कपट का बोलबोला है, साधु कष्ट में है और असाधु आनन्द में है। परमार्थ और स्वार्थ के सब साधन विफल हो गए हैं। जो पृथ्वी कामधेनु के समान थी उसपर कलि के कारण बीज तक नहीं उगते।[2] इस प्रकार तुलसीदास घोर यथार्थवादी थे और जो देखते थे वही कहते थे। यद्यपि वे भक्त थे तथापि ऐसे नहीं कि राजा या प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख रहे। वे तो एक सच्चे युगद्रष्टा की भांति हर बात को अपनी वाणी का

१—साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं बेद पुरान॥

—दोहावली, छन्द ५५४

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

—दोहावली, छन्द ५५५

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं हमहिं पूछिहै कौन॥

—दोहावली, छन्द ५६४

२—राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम बरन धरम बिरहित जग लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत हुलसति खलई है॥
परमारथ स्वारथ साधन भये अफल सकल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु धरनी कलि-गोमर बिबस बिकल जामति न बई है॥

—विनयपत्रिका, छन्द १३६

विषय बनाते थे। कलियुग के वर्णन में उन्होंने ब्राह्मणों तक की 'बेचहि बेद धर्म दुहि लेहीं' कहकर निन्दा की है तो राजा की 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥' कहकर भर्त्सना की है। हाँ, ब्राह्मण-पूजा का उनको सदैव आग्रह रहा। कदाचित् इसका कारण यह था कि समाज-व्यवस्था का नियामक ब्राह्मण ही हो सकता है। और कुछ नहीं तो वर्णाश्रम-धर्म का सचालक और प्रवर्तक तो वह है ही। आदर्श समाज की कल्पना उन्होंने रामराज्य के वर्णन में दी है।

नारी जाति के प्रति तुलसीदास विशेष उदारता नहीं दिखा सके, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। प्रत्येक विरक्त भक्त या सन्त के लिए नारी बाधा बनकर खडी होती आई है। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि नारी जिसके पास होती है वह भक्ति, मुक्ति और ज्ञान की साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कंचन और कामिनी दोनों आग की लपटें हैं, जिनके देखने से ही शरीर तपने लगता है, और छूने से तो मरना ही हो जाता है। उसमें भी नारी नर्क का कुण्ड है जिसके सम्पर्क से केवल साधु बचते हैं अन्यथा सब मारे जाते हैं।[1] लेकिन तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर जो नारी के प्रति कटूक्तियाँ की हैं वे समाज से अधिक व्यक्तिगत हैं। जो लोग यह कहते हैं कि तत्कालीन स्त्री-समाज की दशा का ही चित्र तुलसी ने अंकित किया है, वे श्रद्धाभाव-समन्वित होकर ही ऐसा कहते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में जो तुलसीदास 'हम तो चाखा प्रेम रस पत्नी के उपदेश' की बात स्वीकार करते हैं या

१—नारि नसावै तीन गुन जा नर पासे होइ।
भक्ति मुक्ति निज ज्ञान में पैसि न सकई कोइ॥
एक कनक अरु कामिनी दोउ अगिन की झाल।
देखे ही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल॥
नारी कुंड नरक का बिरला थांभै बाग।
कोइ साधू ऊबरे सब जग मूवा लाग॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४०

जो जगज्जननी सीता का चरित्र अंकित करते हैं, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया और रावण-पत्नी मदोदरी की प्रशसा करते हैं, वे नारी-जाति की निन्दा कैसे कर सकते है ? वे यह भी कहते हैं कि नारी-निन्दा-सबन्धी कथन कथा-प्रसग के बीच पात्रो से कहलाए गए हैं, उनका तुलसीदास से सीधा कोई सम्बन्ध नही। उदाहरण के लिए 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी ये सब ताडन के अधिकारी' समुद्र सेतु-बन्धन के समय की उक्ति है, 'नारि, सुभाउ सत्य सब कहही, अवगुन आठ सदा उर रहही।' रावण का कथन है, 'अधम ते अधम अधम अति नारी।' शबरी का उद्गार है, 'नारि सहज जड अज्ञ', स्वय सती के मन का चिन्तन हैं, 'मुनि मुनि कह पुरान स्रुति सता, मोह् विपिन म नारि बसता।' राम की नारद को चेतावनी है, 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहि नारी' यह वर्षा वर्णन के प्रसग मे लिखा गया है। लेकिन किसी प्रकार भी कोई बात कही जाए उसमे कवि की अपनी वृत्ति भी छिपी रहती हैं। अतएव जैसा कि मिश्र-बन्धुओ ने कहा हैं और मनोवैज्ञानिक ढग से भी ठीक है कि गोस्वामी जी ने स्त्री जाति की निन्दा इसलिए की हैं कि स्त्री जाति का उनको अनुभव न था। पत्नी के द्वारा जो फटकार उन्ह मिली उससे वे रामभक्त तो हो गए पर उनके मन के किसी कोन मे घृणाभाव बराबर बना रहा जो समय-असमय पात्रो या विशिष्ट प्रसगो के माध्यम से ही सही, नारी-निन्दा बनकर बाहर आता रहा। जहा उन्होने नारी की प्रशसा की है, वहा राम के नाते ही की है। 'नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।' कहकर उन्होने इसी ओर सकेत किया है।[1]

तुलसीदास जी के व्यक्तित्व के समन्वयशील होने का पता भी उनके साहित्य से चलता है। अपनी इस समन्वयशीलता के कारण ही वे लोक-नायक हो सके। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "ब्राह्मण वश मे उनका जन्म हुआ था, दरिद्र होने के कारण दर-दर उन्ह भटकना

१—विनयपत्रिका, छन्द १७४

पडा था, गृहस्थ जीवन की सबसे निकृष्ट आसक्ति के वे शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और सस्कृतिहीन जनता मे वे रह चुके थे और काशी के दिग्गज पडितो तथा सन्यासियो के सम्पर्क मे उन्हे खूब आना पडा था। नाना-पुराण-निगमागम का अभ्यास उन्होने किया था। और लोकप्रिय साहित्य और साधना की नाडी उन्होने पहचानी थी"।[1] इस कारण साहित्य, समाज, धर्म सभी क्षेत्रो मे उन्होने समन्वय को महत्त्व दिया। अपने समय की ऐसी कौन-सी छन्द-पद्धति है जिसे उन्होने सफलतापूर्वक न अपनाया हो। राम के मुख से 'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहु नहि भावा' कहलाकर तत्कालीन शैव और वैष्णव सम्प्रदायो को उन्होंने परस्पर अनुकूलता प्रदान कर दी। विनयपत्रिका मे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी को एकरस करके कहा कि 'तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।'[2] 'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा, उभय हरहि भव सभव खेदा।' की घोषणा से भक्ति और ज्ञान को एक कर दिया। राम के निर्गुण और सगुण दोनो रूपो के प्रति प्रेम ने उन्हे निगुण और सगुण का समन्वयकारी बना दिया। केवट और शबरी, अगद और हनुमान् तथा विभीषण से राम का आत्मीय नाता जोडा और ऊच-नीच के भेद को ही व्यर्थ सिद्ध कर दिया। 'तुलसी घर बन बीच मे रहो प्रेमपुर छाइ' के द्वारा उन्होने गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय भी कर दिया। समाज के पारस्परिक सम्बन्धो का समन्वय अयोध्याकाड मे देखने को मिलता है। वस्तुत इस प्रकार रामचरित के माध्यम से उन्होने भौतिक और आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रो के समन्वय की व्यापक वृत्ति का परिचय दिया। कदाचित यही कारण है कि तुलसी साहित्य का अनुशीलन करते समय साहित्य, समाज, धर्म आदि के क्षेत्रो मे नाना विचारधाराओ से परिचालित व्यक्ति अपने-अपने अनुकूल उपादेय सामग्री पा जाते हैं।

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका, चतुर्थ सस्करण पृष्ठ १०३, १०४
२—विनयपत्रिका, छन्द १११

सारांश यह कि तुलसी-साहित्य से उनके जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। उनकी निर्वैयक्तिकता के भीतर वैयक्तिक जीवन की धारा सर्वत्र प्रवाहित है। यदि यह कहा जाए कि उनके जीवन और साहित्य दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है तो अत्युक्ति न होगी। उनके साहित्य का अध्ययन करने वाला कोई भी सजग पाठक स्थल-स्थल पर उनके जीवन की झलक पाकर उनकी महत्ता से परिचित हो सकता है।

डॉ० भगीरथ मिश्र

३
तुलसीदास : युग

समकालीन परिस्थिति

कवि, परिस्थिति-विशेष मे उत्पन्न होता, बढता, सस्कार-ग्रहण करता, प्रेरणा प्राप्त करता, बनता और परिस्थिति को अपनी रचनाओ मे प्रतिबिम्बित करता है, यह ठीक है, परन्तु साथ ही यह भी ठीक है कि वह अपनी समसामयिक परिस्थितियो क प्रतिक्रियास्वरूप बहुत कुछ उन्हें परिष्कृत करने और बनाने का भी कार्य करता है। वह कवि नही जो अपनी स्थिति से जन्म और जीवन ग्रहण करके अपने भावो और विचारो द्वारा वायुमण्डल को सुरभित, विकसित और प्रफुल्लित न कर दे। यदि वह युग का प्रतिनिधित्व करता है, तो वह युग का निर्माण भी करता है, यह सभी महान् कलाकारो के सम्बन्ध मे सत्य है। अत किसी कवि के अध्ययन करने मे उसके दोनो पक्ष देखना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। पहले तो हमे यह देखना होता है कि कहा तक समसामयिक परिस्थितियो ने किसी कवि को बनाने मे योग दिया है और फिर यह भी समझना होता है कि उसने अपने युग तथा आगामी युगो को कहा तक प्रभावित किया है। गोस्वामी तुलसीदास का अध्ययन हम इन्हीं दृष्टियों से करेंगे।

भारतीय सास्कृतिक इतिहास के अन्तर्गत रामचरितमानस की रचना एक बडी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। तुलसी की परिस्थितियों ने, उनके

युग ने, उनके माता-पिता ने, तुलसी को जन्म देकर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया; परन्तु, तुलसी ने मानस की रचना करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य सपन्न किया है। ग्रत: तुलसी की महत्ता ग्रपनी ही निजी है। उनकी परिस्थितियो ने तुलसी को मानस जैसी कृति की रचना के लिए कोई भी सुविधाएं नही दी, वरन् सामान्य रीति से जो सुविधाए ऐसे व्यक्ति को मिल सकती हैं, वे भी उनसे छीन ली। उनके शारीरिक, मानसिक, नैतिक, किसी भी प्रकार के विकास मे सहायक उनकी पारिवारिक ग्रौर सामाजिक परिस्थितियां नही थी। ग्रत. जो कुछ महानता इन्हे प्राप्त हुई वह परिस्थिति-प्रदत्त नही, वरन् निजी प्रतिभा ग्रौर शक्ति के रूप मे है। हा, परिस्थितियों ने इनकी प्रतिभा ग्रौर महानता को प्रखर ग्रौर जागरूक रखने के लिए ग्रवश्य महत्त्वपूर्ण काम किया। ऐसे ही *जैसे कोई विषम ग्रौर प्रतिकूल परिस्थितियों के थपेड़े खाकर ग्रपनी* सामर्थ्य के प्रति सचेत हो जाता है; वैसी ही सचेतना एक ग्रसीम शक्ति के ऊपर विश्वास के रूप में तुलसी के भीतर जाग्रत हो सकी।

राजनीतिक स्थिति

गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रादुर्भाव काल १५वी शताब्दी ईस्वी का ग्रन्त ग्रथवा १६वी शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भ था। भारतीय इतिहास के ग्रनुसार उस समय पठानो (लोदी वश) का शासन-काल समाप्त हो रहा था ग्रौर मुगलो का भारतीय शासन-क्षेत्र मे पदार्पण। १५२६ ई० मे बाबर ने इब्राहीम लोदी को परास्त किया ग्रौर सन् १५२६ से १५३० तक दिल्ली का राज्यशासन किया। उसके बाद हुमायू का ग्रौर सन् १५५६ से १६०५ तक ग्रकबर का राज्यकाल रहा। पठानो ग्रौर मुगलो के शासनकाल के महत्त्वपूर्ण ग्रश को तुलसी ने ग्रपनी ग्राखो देखा ग्रथवा श्रुत ग्रनुभव प्राप्त किया। बड़े-बड़े राजनीतिय परिवर्तन उनके समय मे हुए। शासन को प्राप्त करने के लिए परस्पर लड़ाई-झगड़े उस युग की विशेषता थी। क्या राजा, क्या प्रजा सभी का जीवन स्थिरता

और सुरक्षा से हीन था। उस समय कुछ भी स्थायी न था। राजनीतिक परिस्थिति की विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देशन इस प्रकार किया जा सकता है—

१ राजकीय परिवर्तन बडी शीघ्रता से हो रहे थे।

२ इस राज्यपरिवर्तन मे अधिकाश अधिकार-लिप्सा और शक्ति ही प्रेरक थी। कोई नियम, मर्यादा या आदर्श विद्यमान न थे। भतीजा चचा का, पिता, पुत्र का, भाई भाई का वध कर या बदी कर राज्य पर अपना अधिकार जमा लेता था।

३. राजा और शासक, प्राय अशिक्षित, अहम्मन्य, विलासी और क्रूर थे। शासन को अपने अधिकार मे रखने की ओर वे अधिक सचेत थे, जन-कल्याण की ओर नही।

४ अकबर के पूर्ववर्ती राजाओ के अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित शासन-काल मे कोई भी सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति न हुई थी।

उपर्युक्त बातो का तुलसी के मानस पर गहरा प्रभाव पडा। उनके मन मे प्रतिक्रियास्वरूप भारतीय रघुवशी राजाओ का आदर्श शासन जागरित हुआ जो अत्यन्त प्रजावत्सल, त्यागी, वीर और गुणसपन्न थे। अत इन परस्पर लडते-झगडते और अपने सगे-सम्बन्धियो का रक्त बहाते राजाओ के सम्मुख उन्होने राम के परिवार का आदर्श रखा, जहा पिता की आज्ञावश एक राज्य का अधिकारी पुत्र वनवास ग्रहण करता है और उसीका दूसरा भाई वश-मर्यादा और भ्रातृ प्रेम का पालन करता हुआ राज्य को ठुकरा देता है और बडे भाई के आने तक केवल उसे धरोहर रूप रखता है। इस आदर्श को सामने रखकर उन्होंने अपने युग मे रामराज्य की स्थापना करनी चाही, जो बाह्य विजयो पर नही, वरन् हृदय और मानस पर युग-युग तक कायम रह सका। पठानो और मुगलो का साम्राज्य, ससार से और भारत से उठ गया, पर तुलसी का सास्कृतिक रामराज्य आज भी दृढता मे हमारे बीच जमा हुआ है। रामराज्य की उच्च धारणा रखने वाले तुलसी का तत्कालीन राजाओ

को अशिक्षा और क्रूरता कितनी खटकती थी, यह उनके इस खीझ-भरे दोहे से प्रकट है—

गोंड गँवार नृपाल कलि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद अब केवल दंड कराल॥

मानवता और करुणा से ओतप्रोत तुलसी का मानस इस क्रूरता को सहन करने में असमर्थ था इसीलिए उन्होंने अपने आसपास मानसिक राम-राज्य बना लिया था, जिसमें वे स्वयं जीवन पर्यन्त रहे और अपने बाद भी उसे छोड गए। उक्ति है कि एक बार अकबर के दरबार की मनसबदारी का प्रलोभन मिलने पर उन्होंने कहा था—

हम चाकर रघुबीर के पटव लिखो दरबार।
तुलसी अब का होंहिगे नर के मनसबदार॥

अतः हम कह सकते हैं कि तुलसी के संवेदनशील मानस पर प्रेरणात्मक प्रभाव डालने में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का हाथ था।

सामाजिक स्थिति

तुलसी के समय सामाजिक ढाचा तो दूसरा था, पर व्यावहारिक स्थिति उससे भिन्न थी। उस समय वर्ण-व्यवस्था थी, ऊच-नीच का भेद खूब था, आश्रम-व्यवस्था नहीं थी, पर सन्यासी, साधु, भक्तों, योगियों आदि का आदर था, उनके प्रति सम्मान का भाव था। पारिवारिक जीवन में दिखावे की मर्यादा बंधन रूप में थी; उसका आन्तरिक स्फुरण नहीं था। स्त्री को परिवार में बंधन अनेक थे, भय अनेक थे, पर स्वच्छन्दता और अधिकार कम। आर्थिक दृष्टि से वह पुरुष के ऊपर आश्रित थी। मुगलों और पठानों की क्रूर सौंदर्य-लिप्सा ने उसे वासनात्मक आकर्षण एवं विलासात्मक महत्व ही दे रखा था। उस समय जन-साधारण में तो नहीं, पर समृद्ध समाज में बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। हिन्दू-समाज में भी यह वर्जित न था, पर मुसलमानों के बीच तो यह अधिकांश रूप से देखने को मिलता था। बादशाह, छोटे-

छोटे शासक और पदाधिकारी-गण एक से अधिक स्त्रिया रखते थे, जिसका दुष्परिणाम विलासिता और दुराचार था। उदात्त सामाजिक और देशोन्नति की भावनाओ के स्थान पर विलासिता, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य का ही अधिकार था और शासक धन और विलास-लिप्सा से ही परिपूर्ण थे और इसका प्रभाव सामान्य जनो के चरित्र पर भी अवश्य पडा होगा, विशेषरूप से शासकवर्ग की जनता तो इससे अवश्य प्रभावित थी।

हिन्दू समाज मे कुछ राजाओ और बादशाह के कृपापात्रो के अतिरिक्त अधिकाश जनता, महत्त्वाकाक्षाहीन, निर्धन और जीवन से उदासीन थी। अधिकाश जन-साधारण का जीवन राजाओ और अधिकारी-जनो की सुख-समृद्धि जुटाने मे ही व्यतीत होता था। वे परिश्रम भी करते थे, तो वह अपने *सुख या आवश्यकता-पूर्ति के लिए न* हो पाता था, क्योकि वह सब कुछ उस युग के शक्तिसम्पन्न जनो के बहते विलास की महाधारा मे बहकर मिलता जाता था और इस प्रकार जन-साधारण सतत आतक, दुर्दशा और गरीबी मे जीवन व्यतीत कर रहा था। यद्यपि भूमि उर्वर थी, पर अपनी विवशता और साधन हीनता के कारण उसम लोग अच्छी उपज नही प्राप्त कर पाते थे और सामान्य जनता का जीवन करुणा और वेदना से भरा हुआ था क्योकि राजा प्रजा के लिए नही, वरन्, प्रजा राजा के लिए थी। धनी और शासक-समुदाय की स्वार्थपूर्ण असामाजिक लिप्सा और शक्ति के दुरुपयोग के कारण साधारण जनो का जीवन दुख और शोक का आवास था, जिसका परिणाम दरिद्रता, आचरणहीनता, आत्मविश्वास की कमी, जीवन के प्रति उदासीनता और निर्वेद एव अतिशय ईश्वरोन्मुखता थी, इस युग म हिन्दू समाज मे भक्ति-भावना को जाग्रत करने का यही बहुत बडा कारण था।

अकबर का शासन-काल किन्ही अशों मे अच्छा था, फिर भी वह तुलनात्मक दृष्टि से ही। उसके समय म पडे हुए दुर्भिक्षों के समय जनता

मे त्राहि-त्राहि मची थी। सन् १५५६ और १५७३-७४ मे पडे हुए दुर्भिक्षो मे आदमी अपने ही सगे-सम्बन्धियो को खा जाते थे। चारो ओर उजाड दिखाई देता था और खेत जोतने के लिए जीवित आदमी बहुत कम रह गए थे। इस प्रकार दुर्भिक्ष, अकाल और महामारी के समय जनता की रक्षा का ध्यान शासको को बहुत कम था। अबुलफजल ने अपने 'आईने अकबरी' मे बहुत कम विवरण इन दुर्भिक्षो का दिया है। दुर्भिक्ष आदि तो दैवी आपत्तिया होती हैं फिर भी व्यवस्थित राज्य मे उसका समुचित प्रबन्ध कर दिया जाता है। यह मानते हुए भी कि उस समय समुचित व्यवस्था न थी और अकबर ने तो थोडे-बहुत रक्षा के उपाय भी किए थे, यह निश्चित हो जाता है कि समाज की व्यवस्था बडी बिगडी हुई थी और सगठन छिन्न-भिन्न था। हिन्दू-समाज मे वर्ण-व्यवस्था का शिथिल ढाचा रह गया और उसमे से कर्म-कौशल, त्याग और सगठन की भावना विलीन हो गई थी, वही विकृत होकर अब उपहास का कारण बन बैठी थी जिसका सकेत इतिहासकारो ने भी किया है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस और कवितावली मे उल्लेख किया है।

इतिहासकारो द्वारा निर्दिष्ट उपयुक्त दशा, सामाजिक कल्याण का ध्येय रखने वाले किसी भी व्यक्ति के मानस का द्रवित कर सकती है और तुलसीदास का मन भी अपनी निजी, समाज और देश की दशा को देखकर अतिशय द्रवित हुआ, यह स्वाभाविक था। रामचरितमानस के उत्तरकाड के कलियुग-वर्णन मे और कवितावली के उत्तरकाड मे समकालीन सामाजिक दशा का जो चित्रण तुलसी ने किया है, वह केवल काल्पनिक नही, वरन इतिहास-सिद्ध है जैसा हम आगे देखेंगे। सक्षेप मे तुलसी का समकालीन स्थिति का चित्रण इस प्रकार है[1]—किसान को खेती करने के साधन उपलब्ध नही, भिखारी को भीख नही मिलती। न वणिक् का व्यापार ही चलता है और न नौकर को नौकरी मिलती है। लोग जीविकाहीन हैं और सोच एव चिन्ताग्रस्त दशा मे क्षीण हो

रहे हैं। एक दूसरे से कहते हैं कि कहा जाए और क्या करें ? इस समय दरिद्रता रूप रावण ने ससार को दबा रखा है। इसके परिणामस्वरूप चारो ओर कुकर्म बढ रहे हैं और व्यक्तिगत, सामाजिक और धार्मिक सदाचार सब नष्ट हो रहे हैं। सभी पेट की आग से पीडित हैं और अपने उदर-पोषण के लिए कारीगर, व्यापारी, भाट, नट आदि अपने गुण दिखलाते हैं। पेट को भरने के लिए बेटा-बेटी को भी बेच देते हैं। गौरवशाली, दानी और त्यागी व्यक्तियो का सम्मान नही है। इस सामयिक (कलियुग के) प्रभाव ने सबके मन को मलिन कर रखा है। कवितावली मे आया यह वर्णन महामारी, रुद्रबीसी आदि के वर्णन से भिन्न है और समसामयिक सामान्य परिस्थिति का ही इतिवृत्त है। मानस के उत्तरकाड मे कलियुग-वर्णन जन मन की मलिनता का और भी स्पष्ट प्रमाण देता है। परन्तु उसमे प्राय पौराणिक परम्परा का पालन-सा है और काकभुशुडि के पूर्ववर्ती जीवन मे अनुभूत किसी कलियुग का चित्रण है। भागवत मे भी कलियुग-वर्णन है जिसमे आगे आने वाले कलियुग के धर्मों के रूप म इस प्रकार की बातें कही गई हैं, जैसे—कलियुग मे विपरीत धर्म का आचरण होगा, कुटुम्ब के भरण-पोषण मे ही दक्षता और चतुराई होगी, यश और धन के लिए ही धर्म-सेवन होगा। पाडित्य के नाम पर वाक्चपलता होगी। चारो ओर दुष्ट जन फैलेंगे। चोर एव दुष्ट बढेंगे। वेद ज्ञान पाखड से ढक जाएगा। राजा प्रजा के भक्षक होंगे। ब्राह्मण लोभी और भोगप्रिय होंगे। भृत्य द्रव्यहीन स्वामी को छोड देंगे और स्वामी आपत्तिग्रस्त भृत्य को। धर्म को न जानने वाले धर्म की दुहाई देंगे। जनता दुर्भिक्ष और कर से क्षीण सदैव चिन्ताग्रस्त रहेगी। कौडी के लिए अपने प्रिय जनो तक की हत्याए होगी, आदि।

तुलसीदास के मानस के उत्तरकाड म लगभग इसी प्रकार की बातें हैं, पर अनेक बातें ऐसी हैं जो तात्कालिक स्थिति के चित्रण के रूप मे हैं। तुलसी का वर्णन है कि कलियुग मे ऐसा है। भागवत में है कि ऐसा होगा। अतएव उतना ही अन्तर हम स्पष्ट दीखता है। तुलसी के कलियुग-

वर्णन मे प्रमुखतया बल वर्णाश्रम धर्म की हीनता पर दिया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था पर तुलसी का अटल विश्वास है। इसके नष्ट होने पर सामाजिक मर्यादा नष्ट हो जाती है। लोकचेतना कुंठित हो जाती है और तब यदि राजा भी अनाचारी हुआ तो सत्यानाश ही समझिए। परन्तु यदि वर्णाश्रम-व्यवस्था चलती रहती है तो राजा की अनाचारिता भी लोक-चेतना के सम्मुख पराजित होती है। इसीको भग होते देखकर तुलसी क्षुब्ध होते हैं और कहते हैं—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रथ।
दभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पथ।।

बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।
मारग सोइ जाकहुँ जो भावा। पडित सोइ जो गाल बजावा।।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दभ सो बड आचारी।।
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवत बखाना।।
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।।

० ० ०

मातु पिता बालकन बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।

० ० ०

सौभागिनी विभूषन हीना। विधवन के सिंगार नवीना।
नारि मुई घर सपति नासी। मूड मुडाय होहिं सन्यासी।।

तुलसी का उपर्युक्त वर्णन भागवत से प्रेरित होता हुआ भी समकालीन अनुभव पर आधारित है। यह उसके पूर्ण विवरण से स्पष्ट हो जाता है जिसका आंशिक सकेत यहा पर किया गया है। अपने युग की इस प्रकार की सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध होकर तुलसी ने राम के परिवार के आदर्श तथा रामराज्य की सामाजिक स्थिति को सामने रखना चाहा था, क्योंकि उनका विश्वास था कि रामराज्य का आदर्श सामने

आने पर निश्चय ही लोगों का युग-प्रभाव से कलुषित मन नवीन चेतना और स्फूर्ति से सम्पन्न होगा और उस समाज की फिर से प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया जाएगा।

धार्मिक स्थिति

गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व उत्तर भारत और दक्षिण की अपनी निजी धार्मिक परम्पराए वहा की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियो एव धार्मिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप बन गई थी जिनमे से किसीका भी अध्ययन हम ऐकान्तिक और विच्छिन्न रूप से नही कर सकते। यदि हम ध्यान से देखें तो सामाजिक प्रतिक्रिया एव एकागी दृष्टिकोण के फलस्वरूप जो धार्मिक परिवर्तन होते गए उन्हे विकास की अवस्थाओ के रूप मे ही ग्रहण किया जा सकता है। वैदिक साहित्य के ज्ञान, उपासना और कर्मकाड के पक्षो को लेकर परवर्ती धार्मिक दृष्टिया फूटी। उपनिषद् और वेदान्त, ज्ञान और चिन्तन की उत्कृष्ट अवस्था का द्योतक है जिसकी अद्भुत परिणति शकराचार्य के भाष्य मे दिखलाई देती है। याज्ञिक हिंसा और उसके अन्तस्तल मे व्याप्त लोलुप तृष्णा (जो कर्मकाड का प्रमुख अग था) के प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध और जैन अनात्मवादी धर्मों का विकास हुआ जिसमे प्रत्यक्ष धर्म का परम्परागत ज्ञान और सस्कारो से पूर्ण विच्छिन्न रूप दिखलाई पडता है। वर्णाश्रम की रूढिगत बुराइयो का भी सहज विरोध एव साम्य तथा सामजस्यपूर्ण दृष्टि के साथ मानवता का सदेश देने वाले इन धर्मों ने दलित और निम्न श्रेणी के वर्गों को विशेष आकृष्ट किया। साम्य के भाव म विचारपूर्ण हिन्दूधर्म का कोई विरोध न था। अत शाकर वेदान्त उसका खण्डन करने मे समर्थ हुआ, परन्तु अद्वैत प्रतिपादन मे भक्ति और उपासना का क्षेत्र उन्मुक्त न था। अत उपासना पर अधिक बल देने वाले दक्षिण मे इस अद्वैत का विरोध हुआ। यहा तक कि शकराचार्य को प्रच्छन्न-बौद्ध तक कहा गया। इसमे सन्देह नही कि बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से

अद्वैत सिद्धान्त विश्व की दार्शनिक मीमासाओ मे सर्वोपरि ठहरता है, फिर भी ज्ञान और बुद्धि को सन्तुष्ट करने पर भी दैनिक जीवन-संबंधी रागात्मक व्यावहारिकता की इसमे कमी है। लोक-जीवन की दैनदिन कार्यप्रणाली मे उसका उपयोग नही। सामाजिक अनुष्ठानो के विकास का उसमे कोई स्थान नही। अत. उसके प्रतिक्रियास्वरूप वेदान्त-सूत्रो की व्याख्याए अनेक विद्वानो द्वारा की गई। रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि दार्शनिक भक्तो ने लोक-जीवन-सुलभ व्याख्याए प्रस्तुत की जिनमे अधिकाश के अन्तर्गत प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से पूरा मेल-जोल था। इस प्रकार भक्ति की एव सुदृढ दार्शनिक पृष्ठभूमि बन गई थी। दक्षिण की इस भक्ति-पद्धति का प्रभाव तुलसी के समय मे उत्तर भारत मे भी प्रारम्भ हुआ और गोस्वामी जी स्वय उसके एक प्रमुख प्रचारक रहे।

उत्तरी भारत की धार्मिक परम्पराए दक्षिण से कुछ भिन्न थी। दक्षिण मे न तो बौद्ध धर्म का ही इतना जन-व्यापी प्रचार हुआ था और न इस्लाम धर्म का ही कोई अधिक गहरा प्रभाव था। अतएव वहा की परिस्थिति के अनुरूप धार्मिक परम्पराओ का विकास हो रहा था। परन्तु उत्तरी भारत मे दोनो का प्रभाव गहरा था। बौद्ध और जैन धर्म विभिन्न शाखाओ-प्रशाखाओ मे विभक्त हो गए थे। उनमे भी साधना और सदाचार की गर्हित कमी आ गई थी, फिर भी इनके साम्य भाव का प्रभाव पड़ा और योगदर्शन को लेकर चलने वाले साधको ने इस दृष्टि को अपनाकर अपने नये सम्प्रदाय विकसित किए। सिद्धो, नाथो आदि के योग-परक सम्प्रदाय इसी प्रकार के है जिनमे निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्योतिदर्शन, अनहद नाद-श्रवण, कुण्डलिनी-शक्ति-जागरण एव योग-सरीखा समाधि अवस्था का-सा ध्यानानद प्रमुख महत्त्व रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सम्प्रदाय कोई नितान्त नवीन सम्प्रदाय नही हैं, वरन्, पातजल योगदर्शन के आधार पर विकसित योग सम्प्रदाय हैं जो पूर्ववर्ती परम्परा से पोषित है। इनमे आगे चलकर ज्ञान मे पक्ष पर

कम बल रह गया और साधना या क्रिया पर अधिक, साथ ही साथ अधिकांश ने तान्त्रिक रूप ले लिया जिसमें लोगों को चमत्कृत करने का प्रयास अधिक था, साधना से आत्मिक विकास और आत्मा-परमात्मा की एकता का भाव कम।

इसीसे प्रभावित निर्गुण संतमत भी है, जिसके प्रवर्तक कबीर माने जाते हैं। परन्तु, तुलसी की भांति कबीर भी समन्वयवादी थे, ऐसा प्रायः लोग नहीं समझते, पर तथ्य ऐसा ही है। कबीर द्वारा प्रवर्तित संतमत के तीन पक्ष या भूमियां हैं। एक सिद्ध-नाथ सम्प्रदाय, द्वितीय रामानन्द का भक्ति-मार्ग और तृतीय सूफीमत और इस्लाम धर्म। कबीर ने इन तीनों का समन्वय किया है। तुलसी और कबीर दोनों ही स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा के प्रतिभासम्पन्न महात्मा हैं और उन्हींके मत को लेकर चलने वाले हैं, अन्तर केवल यह है कि एक एक पक्ष को लेकर चलता है और द्वितीय दूसरे पक्ष को लेकर। यहां हमें कबीर के समन्वयवाद को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। कबीर के भीतर जो रूढ़ियों का खण्डन और ज्योतिदर्शन आदि की बातें हैं, वे नाथ सम्प्रदाय और गोरख-पंथियों की हैं। अनेक कथन गोरख और कबीर के बिलकुल एक से हैं। इसके साथ ही साथ कबीर ने रामानन्द की भक्ति पद्धति और राम नाम को प्रमुख आधार माना। भक्ति को वे सर्वोपरि समझते हैं और उनकी सारी ज्ञान-चर्चा भक्ति के लिए ही है। इस भक्ति के भीतर सूफियों की प्रेम-साधना भी मिल गई है। जो प्रेम की मस्ती में मतवाले रहने की चर्चा कबीर ने की है, वह सूफियों का प्रभाव है। अतएव रामानन्द के परब्रह्म, निर्गुण राम को प्रमुख आधार मानकर, सिद्धों और नाथों की यौगिक साधना के सहारे वे सूफियों की भाव-तीव्रता से ओत-प्रोत प्रेमभक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं।

रामानन्द की भक्ति-पद्धति का दूसरा पक्ष सगुणोपासना है। तुलसी ने इसीको अपनाया है। कबीर का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना है और इसके लिए उन्होंने दोनों ही धर्मों की कट्टरपन्थी नीति

ग्रौर ग्राचरणो का खडन किया है। इस्लाम धर्म के ग्रनुकूल वे मूर्ति-पूजा ग्रौर ग्रवतार के विरोधी थे ग्रौर एक ईश्वर की सत्ता को मानते थे। कबीर के समय इस विरोध की भावना के लिए एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी तैयार थी। महमूद गजनवी ग्रौर मुहम्मद गोरी के ग्राक्रमणो ग्रौर मूर्ति-भञ्जन के कृत्यो ने मूर्ति ग्रौर ग्रवतार पर से जनता की ग्रास्था को हिला दिया था। ग्रत वह निर्गुणोपासना के लिए ही अधिक तत्पर थी। उच्चकुलीन हिन्दू ग्रौर कट्टर मुस्लिम मुल्लाग्रो का विरोधी होते हुए भी कबीर को जन सामान्य के विश्वास का बल प्राप्त था ग्रौर उस समय जन साधारण ग्रौर विशेषत निम्न एव ग्रस्पृश्य वर्ग मे कबीर के सतमत का विकास हुग्रा। तुलसी के समय तक कबीर की प्रतिभा क्षीण हो चुकी थी ग्रौर ग्रनेक पन्थो मे उनकी वाणी का सार विभिन्न सम्प्रदायो मे प्रवाहित हो रहा था, परन्तु उसमे वह ग्रोज न था। ग्रनेक पन्थ भ्रम ग्रौर विद्वेष को भी उत्पन्न करने वाले थे। इसी कारण से कबीर का व्यक्तिगत विरोध न करते हुए भी इस बहुसम्प्रदाय वाद का विरोध तुलसी ने किया—

> कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रन्थ।
> दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पन्थ॥

यहा प्रश्न यह उठता है कि निर्गुणोपासना के स्थान पर सगुणोपासना या साकारोपासना की ग्रावश्यकता क्या थी ? इसी प्रश्न के विश्लेषण मे तुलसी का महत्त्व है। कबीर ने सगुण ग्रवतारवाद का खण्डन किया था यह कहकर कि—

> दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है ग्राना॥

तथा

> दस ग्रवतार ईसुरी माया कर्ता कै जिन पूजा।
> कहै कबीर सुनो हो साधो उपजै खपै सो दूजा॥

यह तर्क सीधा है। ग्राने-जाने वाली सभी वस्तुए माया हैं ग्रत उसकी पूजा ग्रावश्यक नही परन्तु निर्गुण की पूजा भी ग्रासान नही। साथ ही

साथ सर्वसुलभ दार्शनिक दृष्टिकोण भी यह नहीं बन पाता। अतएव इसी प्रकार के चैलेंज का उत्तर सा देते हुए तुलसी ने उत्तरकाण्ड मे लिखा है—

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण जान कोइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ।

यह तुलसी का दृष्टिकोण है जिसपर अद्भुत आस्था रखने के कारण ही वे उच्च दार्शनिक मनोवृत्ति एव व्यापक भक्ति का परिचय यह कहकर दे सके—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

गोस्वामी तुलसीदास का उद्देश्य केवल निर्गुण मत का खण्डन न था, वरन् उसमे व्याप्त कोई सर्वजन सुलभ सामाजिक आदर्श प्राप्त न होने से उसको जनसाधारण के लिए अस्वीकार करना था। इसके स्पष्ट करने से पूर्ववर्ती प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है। निर्गुण सन्तमत समाज के सन्यासी जनो के लिए उपयोगी हो सकता था जो समस्त सासारिक जीवन के प्रति एक निर्वेद का भाव धारण कर सकते थे, पर वह सामाजिक जीवन के प्रति कोई उत्साह प्रदान करता हुआ, उन्हे दिखलाई न दिया। यह उदासीनता सामाजिक जीवन को निश्चय ही क्षीण कर रही थी। तुलसी ने इस बात का अनुभव किया, कि लोक-जीवन के प्रति एक प्रबल आकर्षण उत्पन्न करना आवश्यक है, साथ ही यह आकर्षण धार्मिक चेतना के आधार पर होना चाहिए। अत इसी लोक-जीवन को नवीन स्फुरण, प्रेरणा एव सजीवता प्रदान करने के उद्देश्य से तुलसी ने आराध्य ईश्वर और निर्विकार परब्रह्म को सामाजिक क्षेत्र मे उतारा जिसके परिणाम-स्वरूप समाज की जीवन धारा मे नवीन सास्कृतिक प्रगति आ सकी। तुलसी, जीवन की सम्पूर्णता मे विश्वास करने वाले व्यक्ति थे और उसीके अनुरूप, पूर्ण लोक धर्म की प्रतिष्ठा उन्होंने अपने ग्रन्थो मे की है। लोक-धर्मयुक्त सामाजिक दर्शन प्रदान करने मे ही तुलसी की महानता छिपी है। अत यह सिद्ध है कि धार्मिक पृष्ठभूमि भी, तुलसी के दृष्टिकोण के औचित्य

ो ही नही, वरन् उसकी तीव्र आवश्यकता को सिद्ध कर रही है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे जब हम तुलसी के कृतित्व को देखते है, तभी हम उसका वास्तविक मूल्याकन कर सकते हैं। अपने प्रमुख ग्रन्थ रामचरितमानस मे तुलसीदास ने अपने युग के प्रमुख प्रश्न का, कि क्या दशरथ के पुत्र राम ही, परब्रह्म है? जिसका उत्तर कबीर आदि ने निषेधात्मक दिया था, विश्लेषण करके, युग-युग व्यापी सामाजिक मर्यादा और आस्था को ध्यान मे रखते हुए, उसके वास्तविक हित के अनुकूल उत्तर दिया है। इसीमे उनकी युग-युग व्यापी महत्ता छिपी है।

साहित्यिक स्थिति

तुलसी का कवि-रूप उनके धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रकट करने का साधन मात्र है, वह उनका प्रमुख ध्येय नही। तुलसी ने जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे पूर्ववर्ती समस्त परम्पराओ के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा है, उसी प्रकार वे साहित्यिक क्षेत्र मे भी अपने पूर्ववर्ती एव समकालीन सभी प्रकार साहित्यिक और लोक-साहित्य की काव्य-शैलियो को अपनाने का प्रयत्न किया है। उनके पूर्व प्रचलित साहित्यिक पद्धतियो मे प्रमुख निम्नलिखित हैं --

१ वीर-काव्यपद्धति : यह वीरगाथा काल से वीरो और राजाओ के गुणगान मे प्रयुक्त पद्धति है जिसमे कवित्त, छप्पय, पद्धरी, तोमर आदि तीव्रगतिगामी छन्दो मे ओजपूर्ण वर्णन किए गए हैं। तुलसीदास का उद्देश्य यद्यपि प्राकृत जनो का गुणगान न था, फिर भी उन्होंने राम के चरित्र के वीरता और ओज से पूर्ण स्थलो पर इस प्रकार की शैली और छन्दो का व्यवहार किया है। कवितावली म सुन्दर और लका काण्डो मे तथा रामचरितमानस मे लका काण्ड के भीतर इस प्रकार की शैली प्रगल्भता के साथ प्रकट हुई है।

२. सिद्धों-नाथों तथा निर्गुणी सत कवियों की साखी-शैली : इसमे प्राय दोहो का प्रयोग है और यह उपदेश-प्रधान है। तुलसी की

'वैराग्य सदीपिनी', 'रामाज्ञा प्रश्न', 'दोहावली' आदि मे इस शैली के दर्शन होते हैं।

३. प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्यों की दोहा-चौपाई वाली शैली : इस शैली का प्रयोग जायसी, कुतुबन, मझन आदि प्रेमगाथा लिखने वाले कवियो ने किया है। जायसी तो अयोध्या के पास ही जायस के रहने वाले थे। तुलसी की रामचरितमानस तथा वैराग्य सदीपिनी मे इसी पद्धति का प्रयोग है।

४. कवित्त-सवैयों की ललित शैली : इसकी भी परम्परा प्रचलित थी। तुलसी के समकालीन गग, ब्रह्म, नरहरि आदि कवि इसमें लिखते थे। तुलसी ने अपनी 'कवितावली' मे ब्रजभाषा के माध्यम से इसी पद्धति को अपने अत्यन्त ललित रूप मे प्रकट किया है। इसके कुछ छन्द तो इतने सुन्दर हैं कि जान पडता है कि रीतिकालीन कवियो को अपने कवित्त और सवैया लिखने मे तुलसी से ही प्रेरणा मिली है। उदाहरणार्थ एक कवित्त और सवैया नीचे दिया जाता है—

कवित्त

सुन्दर वदन सरसीरुह सुहाये नैन, मजुल प्रसून माथे मुकुट जटनि के
अंसनि सरासन लसत सुचि कर सर, तूनि कटि मुनि पट लूटत पटनि के
नारि सुकुमारि सग जाके अग उबटि कै, विधि विरचे बरूथ विद्युत छटनि के
गोरे को बरनु देखें सोनो न सलोनो लागे, सांवरे विलोके गर्व घटत घटनि के

सवैया

वर दत की पगति कुद कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुंघरारी लटैं लटकै मुख ऊपर कुडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

समस्त वर्णन म रूप चित्रण और अन्तिम पक्ति मे उसका प्रभाव स्पष्ट है जो रीतिकालीन कवित्त-सवैयों की विशेषता बनी।

५ पद-पद्धति : यह यो तो निर्गुण सन्त काव्य मे भी मिलती है,

पर विशेषतया इसका प्रयोग कृष्ण-भक्ति-काव्य मे सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियो द्वारा हुआ। इसका प्रयोग सगीत-कुशल कवियो द्वारा ही विशेष हुआ है। तुलसी ने अपनी गीतावली, विनयपत्रिका, कृष्ण गीतावली मे पदावली को ही अपनाया है। इनके लिखे पद भी बडे सुन्दर है। यद्यपि सगीत की दृष्टि से सूर और मीरा के पदो के समान नही, पर भाव-गाम्भीर्य और काव्य-सौन्दर्य मे ये श्रेष्ठ है।

६. *लोक-गीत-पद्धति :* तुलसी लोक-गीतो से भी बहुत अधिक अनुप्राणित हुए थे। ऐसा जान पडता है कि लोक-गीत और लोक-सस्कृति उनके सस्कारो मे ढल चुके थे। मागलिक अथवा उत्सव-समारोहो मे *लोक काव्य-प्रतिभा गीतो आदि के रूप मे मुखरित होती है।* तुलसी के मानस पर उसका अमिट प्रभाव पडा था और वह उनकी रचनाओ मे फूट निकला। लोक-गीतो की पद्धति हम 'पार्वतीमगल', 'जानकीमंगल', 'रामललानहछू' तथा कही-कही 'कवितावली' और 'गीतावली' मे देखने को मिलती है। पुत्रोत्सव का सोहर 'नहछू' म गूजता है जिसकी प्रतिध्वनि गीतावली के पुत्रोत्सव-वर्णन म भी सुनाई पडती है। विवाहोत्सव के मगल तो पार्वती और जानकी मगलो मे है ही। इसके अतिरिक्त कविता-वली मे कही-कही 'झूलना' नामक लोकछन्द का भी बडा सुन्दर प्रयोग हुआ है जो उनकी ग्रहणशील मेधा का द्योतक है। बडे ओज और मस्त गति से चलता हुआ यह झूलना छन्द बडा प्रेरक होता है—

मत्तभट मुकुट दसकठ साहस सइल सृग बिद्दरनि जनु बज्र टाँकी।
बसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठु शेष सकुचित सकित पिनाकी।
चलत महि मेरु उच्छलत सायर सकल विकलविधि वधिर दिसि विदिस झाँकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हाँक बाँकी।

इसी प्रकार 'बरवै' भी लोकछन्द का एक रूप है। अवध मे अनेक स्थानो पर झूलन की तरह होली तथा अन्य उत्सवो पर बरवै भी कहने की प्रथा है। और अवधी का तो यह ललित छन्द है जिसका उपयोग तुलसी ने किया और जिसपर मुग्ध होकर रहीम ने भी बडा ललित काव्य लिखा था।

यह तो छन्द आदि की दृष्टि से हुआ। कथासूत्र की दृष्टि से तुलसी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो शैलियों को अपनाया और प्रबन्ध मे भी महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनो लिखे। तुलसी ने नाटक नही लिखे। पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य मे नाटको का पूर्ण अभाव है जिसका उत्तरदायित्व सम्भवत उस समय की शासक सस्कृति पर है, जो नाटकों के विरोध मे थी। फिर भी, अपने महाकाव्य के अन्तर्गत तुलसी ने पौराणिक कथा-शृखला द्वारा सिद्धान्त-निरूपण वाली पद्धति, महाकाव्य की सर्गबद्ध शैली तथा नाटको की नाटकीयता सबको मिलाकर एक बडी ही प्रभावशाली शैली का निर्माण किया है जिसमे सभी को आनन्द आता है। तुलसी के काव्य मे विनयपत्रिका के रूप मे हम एक शुद्ध गीति-काव्य ग्रन्थ पाते हैं। काव्य-प्रभेद की दृष्टि से उस समय इसकी कल्पना भी नही थी। यह तो पाश्चात्य काव्य-रूप है। फिर भी इस पूर्णता के साथ समस्त प्रचलित काव्य-शैलियो मे अपनी रचना को ढालने का तुलसी का प्रयास अद्भुत है।

यहा एक प्रश्न यह उठता है कि क्या तुलसी ने चमत्कार-प्रदर्शन के लिए विभिन्न शैलियो मे लिखा है अथवा रामचरित उन्हे इतना प्यारा था कि उसकी बराबर पुनरुक्ति वे करते हैं या उसकी भी कोई सामाजिक आवश्यकता थी ? तुलसी का प्रमुख ध्येय विविध रचनाओ मे रामचरित लिखने का, सामाजिक ही जान पडता है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग की अपनी रुचि के अनुकूल रामचरित सुलभ करना चाहा और इस प्रकार महिला वर्ग के लिए उत्सव, सस्कारो के अवसर पर उपर्युक्त रामचरित के सबध रखने वाले गीत उन्होने 'रामलला नहछू', 'पार्वती मगल', 'जानकी मगल' और 'गीतावली' म प्रदान किए। कवित्त-रसिको के लिए 'कवितावली' बनाई, भक्तो और सन्यासियो के लिए 'विनयपत्रिका', 'वैराग्य सदीपिनी' जैसे ग्रन्थ है, लोक-नीति से प्रेम रखने वाला के लिए 'दोहावली' है और गम्भीर साहित्यिक एव दार्शनिक रुचि वाले लोगा के लिए तथा जन-मानस का सस्कार करने के लिए तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया। इस प्रकार तुलसी की जागरूक चेतना ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर विविध ग्रन्थो की रचना की थी।

४

तुलसी का काव्य-सौन्दर्य

गोस्वामी तुलसीदास जी भक्ति के क्षेत्र में जितने महान् थे उतने ही कविता के क्षेत्र मे भी थे। वस्तुतः उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी। उनकी भक्ति ही मानो वाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप मे व्यक्त हुई थी। उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नही थी। 'कवि न होउँ नहिं वचन प्रबीना' मे जहा उनके विनय का पता चलता है वहा यह भी सकेत है कि उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य कविता करना नही था। जिस प्रौढ वय मे उन्होने कविता करना आरम्भ किया था, उससे पता चलता है कि यशोलिप्सा भी उन्हे नही थी। उन्होने जो कुछ कहा है वह केवल कवि-चातुर्य के फेर मे पडकर नही, वरन् इसलिए कि अपने हृदय की अनुभूति को बिना प्रकट किए उन्हे चैन नही मिलता था। यही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है। प्रयत्नप्रसूत कविता वास्तविक कविता नही कही जा सकती। उसमें कविता का बहिरग हो सकता है पर यह आवश्यक नही कि जहा कविता का बहिरग दिखाई दे वही उसका अभ्यतर भी मिल जाए। सच्ची सजीव कविता के लिए यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तिया वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जाए। जब कवि की सब भावनाए एक-मुख होकर जागरित हो उठती हैं, तब कवि का हृदय स्वत ही भावुक उद्गारो के रूप मे प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिए न तो कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी

रुकावट ही उसे रोक सकती है। गोस्वामी जी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा हो गई थी। उनकी निःशेष मनोवृत्तियां रामाभिमुख होकर जागरित हुई थी। भगवान् श्रीराम के साथ उनके मनोभावों का इतना तादात्म्य हो गया था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच व्यवधान होकर आए उससे कदापि उनके हृदय का लगाव नहीं हो सकता था। यही कारण है कि भगवान् राम के अतिरिक्त किसीके विषय में उन्होंने अपनी वाणी का उपयोग नहीं किया।

श्रीरामकथा का आदि स्रोत 'वाल्मीकीय रामायण' है। गोस्वामी जी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण इन कवीश्वर की गोस्वामी जी ने वन्दना भी की है, इन्हीके साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर की भी वन्दना की है, क्योंकि उन्होंने हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महारामायण, भुशुण्डिरामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भरद्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्यराघव, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में मिलती है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस लिखने के लिए इन ग्रंथों को पढ़ा था। वे भगवान् राम के अन्यतम भक्त थे, इसलिए उन्होंने राम-सम्बन्धी सभी लभ्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और सारग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मञ्जुल लोक-रक्षक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया, उसीको उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण में उनकी मौलिकता है, जिसका रूप उनकी प्रबन्ध-पटुता के योग से अत्यन्त पूर्णता के साथ खिल उठता है।

जिस प्रकार गोस्वामी जी का जीवन राममय था, उसी प्रकार उनकी कविता भी राममय थी। श्रीराम-चरित्र की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के सम्पूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसीमें उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तःप्रकृति

और बाह्य-प्रकृति दोनो से उनके हृदय का समन्वय था। इसीसे उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु गोस्वामी जी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक भगवान् श्रीराम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। पंपासरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

फलभारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसम्पति पाइ॥
सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्हि के दिन सुख संजुत जाहिं॥

प्राकृतिक दृश्यों में शील संरक्षिका धर्मशीला नीति की यह छाया उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किंधाकांड के अन्तर्गत वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोस्वामी जी का महत्त्व है कि धर्मसादृश्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुरुचि के प्रसार में समर्थ हुए हैं।

गोस्वामी जी का प्रकृति से परिचय केवल परम्परागत नहीं था। उन्होंने प्रकृति के परम्परागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परन्तु वहीं तक जहां तक ऐसा करना सुरुचि के प्रतिकूल नहीं पड़ता। सीता जी के वियोग में विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के इस कथन में—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

उन्होंने कविपरम्परा का ही अनुसरण किया है। ये उपमान न जाने कब से भिन्न-भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की सुन्दरता के प्रतीक समझे जाते हैं। मूल रूप में ये मनुष्य जाति की, और विशेषकर

उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् कविसमुदाय की, निसर्ग-सौंदर्यप्रियता के द्योतक है। परन्तु आगे चलकर इसका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए होने लगा। परन्तु गोस्वामी जी ने परम्परा के अनुसरण से ही सन्तोष किया हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने अपने लिए अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था। उनके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी। उनके विशाल हृदय-में जड़ और चेतन सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भावित होते हैं। उनकी दृष्टि में ग्लानिपूरित हृदय को लेकर रामचन्द्र जी को मनाकर लौटा लाने के लिए जानेवाले शीलनिधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है। इसीलिए उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिए—

किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।

प्रकृति की सरल सुन्दरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी। पक्षियों का कलरव, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आमन्त्रक प्रतीत होता था—

बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥

कोकिला की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनोमोहक जान पड़ती थी कि उसमें मुनियों का भी ध्यान भंग हो जाए।

'जड़-चेतन, जीव-जन्तु' सबको राममय देखनेवाले गोस्वामी जी का हृदय यदि प्रकृति की सुन्दरता के आगे उछल न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती।

प्रकृति-सौंदर्य के लिए उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसीका प्रसाद है कि हिन्दी में स्वीकृत विवरणमात्र दे देने की परम्परा से ऊपर उठकर कहीं-कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रकृति के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोस्वामी जी में दिखाई देती है वह हिन्दी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती

लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलिसाउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥

इसी डेढ़ चौपाई में गोस्वामी जी ने चित्रकूट और उसके तल पर बहनेवाली मन्दाकिनी का सुन्दर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोस्वामी जी की ही कला का कौशल है।

इसी प्रकार पंपासरोवर तथा जल पीने के लिए आए हुए मृगों के झुंड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आंखों के सामने खींच देता है—

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। उसकी बाहरी चालढाल, मुद्रा, आकार आदि का वर्णन भी बाह्य प्रकृति के वर्णन के ही अन्तर्गत समझना चाहिए। गोस्वामी जी ने इनके चित्रण में भी अपना कौशल दिखलाया है। मृगया करते हुए श्रीरामचन्द्र की मूर्ति उनके हृदय में विशेष रूप से बसी हुई थी। उस मूर्ति का चित्र खींचते हुए उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। 'जटा मुकुट सिर सारस नयननि, गौहें तकत सुभौंह सकोरे।' और भी—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेमहरिन के पाछें।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछें॥

मृग के पीछे दौड़ते हुए बाण छोड़ने के लिए झुकते हुए, मृग के भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हारकर परिश्रम जताते हुए राम का कैसा सजीव चलचित्र आंखों के सामने आ जाता है! बाह्यप्रकृति से भी अधिक गोस्वामी जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य-स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है, इसको वे भली भांति जानते थे। इसीसे उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोष रहित हुआ।

रामचरितमानस मे प्राय सभी प्रकार के पात्रो के चरित्र-अकन मे उन्होंने अपनी सिद्धहस्तता दिखाई है। दूसरे के उत्कर्ष को अकारण ही न देख सकने वाले दुर्जन किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपने पक्ष मे करने के लिए पहले स्वय स्वार्थ-त्यागी बनकर अपने को उनका हितैषी जताकर उनके हृदय मे अपने भावो को भरते हैं, इसका मन्थरा के चरित्र म हमे अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। दुर्जनो की जितनी चालें होती हैं उन्हींके दिग्दर्शन के लिए मानो सरस्वती मथरा की जिह्वा पर बैठी थी।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हे अभीष्ट था उसे उन्होंने कोमल वय मे बीजरूप म दिखलाकर, आगे बढते हुए भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे उनका नैसर्गिक विकास दिखाया है। श्रीरामचन्द्र जी के जिस स्वार्थ-त्याग को हम बाहुबल से जीते हुए लका के समृद्ध राज्य को बिना हिचक विभीषण को सौंप देने मे देखते है वह सहसा आई हुई उमग का परिणाम नही है, वह श्री रामचन्द्र का बाल्यकाल ही से क्रमपूर्वक विकास पाता हुआ स्वभाव ही है। उसे हम चौगान के खेल मे छोटे भाइयो से जीतकर भी हार मानते हुए बालक राम मे, अन्य पुत्रो की उपेक्षा कर जठ पुत्र को ही राज्याधिकारी मानने वाली प्रथा को अन्याययुक्त विचार करते हुए युवा राम म, और फिर प्रसन्नता से राज्य छोडकर ऋषि-मुनियो की भाति तपोमय जीवन बिताते हुए वनवासी राम मे देखते हैं।

रामचरितमानस मे रावण का जितना चरित्र हमारी दृष्टि म पडता है उसमे आदि से अन्त तक उसकी एक विशेषता हमे दिखाई देती है। वह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक शक्ति का अर्जन ही गोस्वामी जी राक्षसत्व समझते थे। उसका अपार बल, विश्वविश्रुत वैभव, उसकी धर्महीन शासनप्रणाली जिसमे ऋषि-मुनियो तक से कर लिया जाता था, उसके राज्य भर मे धार्मिक अभिरुचि का अभाव और धार्मिक उत्पीडन, ये सब उसके भौतिकवाद के द्योतक हैं। प्रश्न उठता है कि यह बडा तपस्वी भी तो था ? किन्तु उसके तप से भी उसकी भौतिकता का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी

आध्यात्मिक उन्नति या मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था, वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख को भोगने के लिए वह इस शरीर से अमर हो जाए।

हनुमान् जी मे गोस्वामी जी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे भगवान् राम के सेवक हैं। गाढे समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे जाती है तब हनुमान् जी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाघकर सीता की खबर वे ही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल पर्वत को उखाड ले आकर उन्होंने सजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्होंने अपना हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमान् जी के चरित्र मे एक बात से कुछ असमजस हो सकता है। वे सुग्रीव के सेवक थे। सुग्रीव से बढ़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवा-धर्म का व्यतिक्रम नहीं किया ? नहीं, लकाविजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी नहीं छोडी तथा और लोगो से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या मे श्रीराम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

दिन दसि करि रघुपति-पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा ॥
पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा-आगारा ॥

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-प्रवणता उनकी सब बातो मे प्रकट होती है। राम खुशी से उनके लिए राज्य छोड गए हैं, कुल गुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर बैठने की अनुमति देते हैं, कौशल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है; परतु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से क्षुब्ध हैं कि लोग कैकेयी के कुचक्र मे उनका हाथ न देखें। वे माता से उसकी कुटिलता के लिए रुष्ट हैं। परन्तु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते, इसीमें उनके हृदय की स्वच्छता है। जब माता ही बुरी है तो पुत्र कैसे अच्छा हो सकता है !—

मातु मदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली ॥

सिंहासन स्वीकार करने के लिए आग्रह करने वाले लोगो से उन्होन कहा था—

कैकेयी सुग्र कुटिलमति राम-विमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस मोहि से अधम के राज॥

भरत के सबध मे चाहे यह न घटती और वे प्रजा का पालन बडे प्रेम से करते, जैसा उन्होंने किया भी, परन्तु उनका राज्य स्वीकार करना महत्त्वाकाक्षी राजकुमारो और द्वेषपूर्ण सौतों के लिए एक बुरा मार्ग खोल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय किसी न किसी काट की आशका बनी रहती है। इसी बात को दृष्टि मे रखकर सम्भवत उन्होन कहा था—

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबही॥

भरत की लोक-मर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिन्ता ने ही राम को 'भरत भूमि रह राउरि राखी' कहने के लिए प्रेरित किया था। उमडते हुए हृदय और वाष्प गद्गद कठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुचने पर जब राम ने उनसे अपना धर्म-सकट बतलाया तब उसी धर्म प्रवणता ने उन्हे राज्य का भार स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। परन्तु उन्होने केवल राजा के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होन वनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लघन की आशका दूर हो जाए।

परन्तु वास्तविक मानव जीवन इतना सरल नही है जितना सामान्यत बाहर से दीखता है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव म एक ही भावना की प्रधानता नही रहती। प्राय एक से अधिक भावनाए उसके जीवन मे स्थिर होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित कराती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाए एक दूसरे की विरोधिनी होकर आती हैं तब यदि कवि इनके चित्रण मे किंचित् भी असावधानी करे तो उसका चित्रण सदोष हो जाएगा। उदाहरण के लिए गोस्वामी जी

ने लक्ष्मण को प्रचंड प्रकृति दी है, परन्तु साथ ही उनके हृदय में राम के लिए अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहां पर इन दोनों बातों का विरोध न होगा वहां पर इसके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के 'बीर विहीन मही मैं जानी' कहते ही वे तमककर कह उठते हैं—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥

परशुराम के रोषभरे वचनों को सुनकर वे खोरी-खोरी सुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—

भृगुवर परसु देखावहु मोहीं। बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर आते देख राम के अनिष्ट की आशंका होते ही वे बिना आगा पीछा सोचे भरत का काम तमाम कर डालने के लिए उद्यत हो जाते हैं—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

इसी प्रकार सरल राम भक्ति का परिचय भी उनके जीवन के चाहे जिस अंश में देखने को मिलेगा। गोस्वामी जी के कौशल की परख वहां पर हो सकती है जहां पर राम के प्रति भक्तिभावना और सहज प्रचंड प्रकृति एक दूसरे के विरुद्ध होकर आवें। यदि ऐसे स्थल पर दोनों भावों का निर्वाह हुआ तो समझना चाहिए कि वे चरित्र चित्रण में कृतकार्य हुए हैं।

भगवान् श्री रामचन्द्र जी को कैकेयी ने वन जाने का उपदेश दिया है। वचनबद्ध दशरथ 'नाहीं' नहीं कर सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आशा करना कि लक्ष्मण क्रोध से तिलमिलाकर धनुष-बाण लेकर सबका विरोध करने के लिए उद्यत हो जाएंगे, स्वाभाविक ही है। परन्तु देखते हैं कि गोस्वामी जी ने लक्ष्मण से इस समय ऐसा कुछ भी नहीं करवाया है। परन्तु यह जितना ही सामान्य पाठक की आशा के विरुद्ध हुआ है, उतना

ही सप्रयोजन भी है, क्योंकि यहां पर क्रोध प्रकट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विपरीत होता। ऐसा करने से वे राम की रुचि के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा का तब पता चला जब राम वन के लिए तैयार हो चुके थे। एक पदानुसारी भृत्य की भांति वे भी चुपचाप वन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें क्रोध न हुआ हो, क्रोध हुआ अवश्य था, परन्तु उन्होंने उसे दबा लिया। ससैन्य भरत को चित्रकूट आते हुए देखकर—

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिलि आजू॥
कहकर उन्होंने जिस रिस का उल्लेख किया है वह यही रिस था जिसे उन्होंने उस समय प्रकट नहीं होने दिया था। गोस्वामी जी ने भी इस अवसर की गंभीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार लंका जाने के लिए प्रस्तुत श्रीरामचन्द्र जी ने ३ दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिए विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पसन्द न आई। जब रामचन्द्र जी ने समुद्र को अग्निबाणों से सोखने का विचार करके धनुष खींचा तब लक्ष्मण की प्रसन्नता दिखलाकर गोस्वामी जी ने इस अरुचि की ओर संकेत किया है।

भावद्वन्द्व का एक और उदाहरण लीजिए। कैकेयी के कहने पर रामचन्द्र जी ने वन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ का राम प्रेम और उनकी सत्यप्रतिज्ञता दोनों कसौटी पर हैं और उनके साथ-साथ गोस्वामी जी का चरित्र चित्रण का कौशल भी है। पहले तो वन जाने की आज्ञा गोस्वामी जी ने दशरथ के मुंह से नहीं कहलवाई है। 'तुम वन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे नहीं चाहते थे कि राम वन जाएं। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचन्द्र को वन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु वचन भंग करने का विचार भी उनके मन में नहीं आया। हां, वे मन ही मन देवतों को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

वचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सोचु सनेहु ॥

सत्यप्रतिज्ञ दशरथ अपमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे परन्तु राम का विछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कैकेयी को समझाती हुई विप्रवधुओं ने कहा था—'नृप कि जिअहिं बिनु राम'। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशंका की ओर संकेत किया था—'राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं'। हुआ भी यही। वचनों की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को वन जाते हुए देखते हैं, उन्हीं को हम राम के विरह में स्वर्ग जाते हुए देखते हैं।

जहां मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान ने गोस्वामी जी से चरित्र-विधान में स्वाभाविकता की प्राणप्रतिष्ठा कराई वहां साथ ही उसने रस की धारा बहाने में भी उनको सहायता दी, क्योंकि रसों के आधार भाव ही हैं। गोस्वामी जी केवल भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को एक दूसरे के साथ संश्लिष्टा-वस्था में देखा था, जैसा कि वास्तविक जगत् में देखा जाता है। राम-चरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रसप्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने में समर्थ हुए हैं। प्रेम को उन्होंने कई रूपों में स्थायित्व दिया है। गुरुविषयक रति, दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य, भगवद्विषयक रति या निर्वेद सभी हम रामचरितमानस में पूर्णता को पहुंचे हुए मिलते हैं। गुरुविषयक रति का आनन्द हम विश्वामित्र के चेले राम-लक्ष्मण देते हैं जो गुरु से पहले जागकर उनकी सेवा शुश्रूषा में संलग्न दिखाई देते हैं। भगवद्विषयक रति की सबसे गहरी अनुभूति उनकी विनयपत्रिका में होती है, यद्यपि उनके अन्य ग्रंथों में भी इसकी कमी नहीं है। शृंगार रस के प्रवाह में पाठकों को आप्लुत करने में गोस्वामी जी ने कोई कसर नहीं रखी है। परन्तु उनका शृंगार रस रीतिकाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भांति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृंगार रस यदि अश्लीलता से बहुत दूर पवित्रता की

उच्च भूमि मे उठा है तो वह गोस्वामी जी की कविता में। जहा परमभक्त सूरदास भी अश्लीलता के पक्ष मे पड गए हैं वहा गोस्वामी जी ने अपनी कविता मे लेशमात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

> करत बतकही अनुज सन मन हियरूप लोभान।
> मुखसरोज मकरद छवि करइ मधुप इव पान ॥
> देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
> निरखि निरखि रघुवीर छवि बाढइ प्रीति न थोरि ॥

सचमुच सरल प्रेममय यह जोडी हर एक के हृदय मे घर कर लेती है। इनका यशोगान करती हुई गोस्वामी जी की वाणी धन्य है, जिसने वासना-विहीन शुद्ध दाम्पत्य प्रेम का यह परम पवित्र चित्र लोक के समक्ष रखा है। जब कोई विदेशी कहता है कि हिन्दी के कवियो ने प्रेम को वासना और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिन्दी-साहित्य को गदगी से भर दिया है तब 'यह लाछन सर्वांश मे सत्य नही है,' यह सिद्ध करने के लिए गोस्वामी जी की रचनाओ की ओर आसानी से सकेत किया जा सकता है।

गोस्वामी जी के विप्रलम्भ शृगार की मृदुल कठोरता श्री सीता जी के हरण के समय भगवान् राम के विलाप मे पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है।

करुणरस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पडती है। राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यो ही पर नही, पशुओ पर भी पडी। जिस रथ पर राम को सुमन्त्र कुछ दूर तक पहुचा आया था, लौट आने पर उसमे जुते हुए घोडो की आकुलता देखिए—

> देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिन पख बिहँग अकुलाहीं ॥
> नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जल मोचहिं लोचन बारि ॥

घोडो की जब यह दशा थी तब पुरवासियो की और विशेषकर उनके कुटुम्बीजनो की क्या दशा हुई होगी!

जनक के 'बीरबिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति

मे जो परिवर्तन हुआ उसमें मूर्तिमान रौद्ररस के दर्शन होते हैं—

माखे लखनु कुटिल भईं भौंहें । रदपट फरकत नयन रिसौंहे ॥

वीर और वीभत्सरस का तो मानो लकाकाड खोत ही है। शिव धनुष के भग होने पर चारो ओर जो आतक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है—

भरे भुवन घोर कठोर रव रविबाजि तजि मारगु चले ।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल बिचारहीं ।

श्री रामचन्द्र जी से सती और कौशल्या को एक ही साथ कई रूप दिखलाकर उन्होंने अद्भुत रस का चमत्कार दिखलाया। शिवजी की बरात के वर्णन और नारद-मोह मे हास्यरस के फुहारे छूटते हैं। स्वय राम-कथा के भीतर कृत्रिम रूप बनाकर आई हुई वास्तव में कुरूपा शूर्पणखा के राम के प्रति इस वाक्य से ओठ पुलक ही जाते हैं—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥

लक्ष्मण इसपर मन ही मन खूब हसे थ। इसी कारण जब श्रीराम जी ने उसे उनके पास भेजा तो उनसे भी न रहा गया। बोले—उन्हीके पास जाओ, वे राजा हैं, उन्हे सब कुछ शोभा दे सकता है।

प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा । जो कुछ करहिं उनहिं सब छाजा ॥

इतना होने पर भी यह कही नही भान होता कि गोस्वामी जी ने प्रयत्न-पूर्वक आलम्बन, उद्दीपन, सचारी आदि को जुटाकर रसपरिपाक का आयोजन किया हो। प्रबन्ध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वत ही रस की तलैया बध गई है जिसम जी भरकर डुबकी लगाकर ही साहित्यिक तैराक आगे बढ़ने का नाम लेता है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श मे ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति म जितनी

सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य में सफलता भी होगी। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का विद्वान होने पर भी उन्हें देववाणी की ममता छोड़कर जनवाणी का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया था। संस्कृत, जिसमें अब तक रामकथा सुरक्षित थी, अब जन-साधारण की बोलचाल की भाषा न रहकर पण्डितों के ही मंडल तक बंधी रह गई थी। इससे रामचरित का आनन्दपूर्ण लाभ सर्व-साधारण न उठा सकते थे। इसीसे गोस्वामी जी को भाषा में रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई, पर पंडित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा की कविता की वे हंसी उड़ाते थे।—

भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी॥

परन्तु गोस्वामी जी ने उनकी हंसी की कोई परवाह नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि वही वस्तु मानास्पद है जो उपयोगी भी हो। जो किसी के काम न आवे उसका मूल्य ही क्या ?

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिअत साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच॥

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की और इस प्रकार रामचरित को देश भर में घर-घर पहुंचाने का उपक्रम किया।

दिग्दर्शनमात्र कराने के लिए हम गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रबन्ध-पटुता का एक उदाहरण देते हैं। कथा बालकांड की है। धनुष टूट चुका है। सीता जी सखियों को साथ लिए हुए रामचन्द्र जी को जयमाल पहनाने के लिए आ रही हैं। उनके रूपलावण्य को देखकर दुष्टप्रकृति के राजा लोग, जो धनुष न तोड़ सकने के कारण लज्जित हो चुके हैं, लालायित हो गए और—

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥
लेहु छुड़ाय सीय कहँ कोऊ। धरि बांधहु नृप-बालक दोऊ॥
तोरें धनुष चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुअँरि को बरई॥
जो बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥

इस प्रकार स्थिति भयावह हो चली थी। यदि लड़ाई छिड़ जाती तो रक्त-पात हुए बिना न रहता। अतएव गोस्वामी जी ने अपनी प्रबन्ध-पटुता का यहां स्पष्ट परिचय दे दिया है। उन्होंने बाल्मीकि जी के दिए हुए घटना-क्रम को बदलकर इस स्थिति को सभाल लिया।

खरभर देखि बिकल नरनारी। सब मिलि देहिं महीपन गारी।
तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आये भृगुकुल कमल पतंगा॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने।
गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड विराजा॥
सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिसवस कछुक अरुन होइ आवा।
भृकुटी कुटिल नयन रिसराते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥
वृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला॥
कटि मुनि-बसन तून दुइ बाँधे। धनुसर कर कुठार कल काँधे॥
संतवेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीररसु, आयेउ जहँ सब भूप॥
देखत भृगुपति वेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला।
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥
जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी। सो जानै जनु आइ खुटानी॥

बस, सारी परिस्थिति ने पलटा खाया और कुटिल राजाओं का शेखी हांकना बन्द होकर उनको अपनी रक्षा की चिंता ने ग्रस लिया।

ऐसी पटुता गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर दिखाई है। पर यहां तो उदाहरणस्वरूप एक घटना का उल्लेखमात्र कर दिया गया है।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्‌गारों की सत्यता आदि तो है ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। 'नाना-पुराणनिगमागमसम्मत' रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी

ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हे अभिव्यजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यो तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था, परन्तु उन्होंने रामचरितमानस मे प्रधानत वाल्मीकिरामायण का आधार लिया है। साथ ही उनपर वैष्णव महात्मा रामानद की छाप स्पष्ट देख पडती है। उनके रामचरितमानस मे मध्यकालीन धर्म-ग्रथो—विशेषत अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण—का प्रभाव कम नही है। भुशुडि-रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रथो का ऋण भी गोस्वामी जी पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकिरामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल *साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही* उनकी प्रगाढ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामी जी की समस्त रचनाओ मे उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत म घर-घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव इसीपर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोडो भारतीयो का एकमात्र धर्म ग्रन्थ है। जिस प्रकार सस्कृत साहित्य मे वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते है, उसी प्रकार आज सस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी, करोडो की सख्या म, रामचरितमानस को पढती और वेद आदि की ही भाति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामी जी की प्रतिभा सर्वत्र समान रूप से लक्षित होती है, किन्तु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र म अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु भाई आदि पारिवारिक सम्बन्धो का कैसा

निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के गंभीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दुओं के सब देवता, उनकी सब रीति नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदास जी को स्वीकार है। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं रामचन्द्र। वे भक्त होने हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के सकलित संस्करण है और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतना ऊंचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर, आनंदमग्न होकर, हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि गोस्वामी जी ने अध्ययन और प्रतिभा के बल से ही अपने ग्रन्थों की रचना की तथा वे स्वतः अपनी रचनाओं के साथ एकाकार नहीं हुए। न उसका यही आशय है कि सामाजिक धर्म, जाति-पांति की व्यवस्था देवता-देवी की पूजा ही गोस्वामी जी की रचना की प्रधान वस्तुएं हैं। वास्तविक बात तो यह है कि गोस्वामी जी भारतीय आध्यात्मिक साधना की धारा में पूर्णरूप से निमज्जित हो चुके थे और उनका सर्वोपरि लक्ष्य उक्त साधना को जनता के जीवन में भर देना था। काव्य या साहित्य की रचना अथवा वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा का प्रयास तो आनुषंगिक रूप से गोस्वामी जी के लक्ष्य थे। प्रधानतः वे भक्त थे और भक्ति के स्रोत में डूबे हुए थे। राम की भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य थी और उसी उपलक्ष्य से वे अन्य समस्त कार्य करते थे। भारत की चिर प्रचलित आध्यात्मिक साधना को सामयिक सांचे में ढालकर और उसे रामकथा के प्रबंध में

सन्निहित कर उन्होंने जन-समाज के मानस को आप्लावित कर दिया। इस देश का कोई कवि सामूहिक स्याति प्राप्त करने के लिए अध्यात्मविद्या का संग नही छोड़ सकता। विशेषत जिस कवि का मुख्य उद्देश्य समाज को भक्ति की धारा मे निष्णात करना रहा हो, उसे तो स्वत अध्यात्म-शास्त्र का साधक और अनुयायी होना ही चाहिए। गोस्वामी जी भी ऐसे ही कवि थे।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नही किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशसा मे दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियो का, राम-कथा के प्रसग मे, नाम लिया है।

कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।
का सकेत इस तथ्य की ओर है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशसा नही की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्तन मे ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए है वे मनुष्यमात्र के लिए कल्याण कर है। दोहावली म उन्होने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम मे दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृखलता का जो खडन साखी-सबदी-दोहा-कारो की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस म मर्यादावाद की जैसी सुन्दर सृष्टि गुरु की अवहेलना के लिए शिष्य को दडित करके की है, राम-राज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है, उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसगों म गोस्वामी जी की मनुष्यसमाज के प्रति हितकामना स्पष्टत झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य मे मानवता के चिरतन आदर्श भरे पडे हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास जी ने जो कुछ लिखा है, स्वान्त-सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है उसम आत्मा की प्रेरणा न होने

के कारण स्थायित्व नही होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं मे होता है वह अन्यत्र मिलना असम्भव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले कवियो से सहज मे ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशो का सहारा लेने वाले नीतिवादी भी उनके सामने नही ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्राजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और सयम की भावना मे गोस्वामी जी ससार के सर्वश्रेष्ठ कवि है। इनके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियो से करते हैं तब उनकी यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामी जी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यजित भावो की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनो से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परन्तु उसमे भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। सीता-स्वयवर से पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदास जी की अपनी उद्भावना है। धनुष भग के पश्चात् परशुराम जी का आगमन उन्होने अपनी प्रबन्ध पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनाएं गोस्वामी जी ने अपनी ओर से सन्निहित की है, जैसे सीता जी का अशोक वन मे विरह-पीडित अवस्था मे अशोक से आग मागना और तत्क्षण हनुमान् जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण, सुग्रीव आदि राम भक्तो का चरित्र तुलसीदास जी ने विशेष सहानुभूति के साथ अकित किया है। गोस्वामी जी के भरत तो गोस्वामी जी के ही हैं—भक्ति की मूर्ति। अपने युग की छाप भी रामचरित-मानस में मिलती है, जिससे वह *युग प्रवर्तक ग्रन्थ बन सका है। कलियुग* के वर्णन मे उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया

है । ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताएँ हैं, जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखे हुए राम-कथा के ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणोपेत बन सका । पूरे ग्रन्थ में उपमाओं और रूपकादि अलकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है । वह समस्त वर्णन और वे अलकार रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि में आ ही नहीं सकते । गोस्वामी जी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । वे कोरे भक्त ही नहीं थे, प्रत्युत मानवचरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजुकुटिल गतियों के पारखी भी थे, यह रामचरितमानस में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । मथरा के प्रसग में गोस्वामी जी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है । कैकेयी की आत्म-ग्लानि भी उन्होंने मौलिक रूप से प्रकट कराई है । ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं । प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिन्दी के कवियों में बहुत कम है, परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है । इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबन्ध में सम्बन्धनिर्वाह और चरित्र चित्रण का निरन्तर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते । उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकिरामायण से भी अधिक गम्भीर और पूत है ।

जायसी ने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छन्दों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा चौपाई छन्दों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की । यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे, अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी । परन्तु गोस्वामी जी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे, अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है । इसमें इनके रामचरितमानस में प्रसगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का

माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामी जी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि इसमें सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएं हो रही थी। गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत-पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहां एक ओर जायसी और सूर ने क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की थी, वहां गोस्वामी जी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार हुआ और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छन्द भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छन्दों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरितमानस के लंकाकाण्ड में जो युद्धवर्णन है, उसमें चन्द आदि वीर कवियों के छन्द भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों में कथा कही गई है, जो भाटों की परम्परा के अनुसार है। इसमें राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छन्द का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनयपत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभाषा के सगुणोपासक सन्त-महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहां की लीरिक कविता आरम्भ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिन्दी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी

ने छोटे छन्दों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामी जी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामी जी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिन्दी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिन्दी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई है।

तुलसीदास जी के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की परीक्षा तीन प्रधान दृष्टियों से करनी पड़ेगी—भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उनपर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप हम यहां कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छन्दों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि में रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबन्ध-कल्पना, क्या सम्बन्ध निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति वर्णन में हिन्दी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामी जी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों का बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्मग्रंथ का काम दे रहे हैं उसका कारण यही है। गोस्वामी जी हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यश प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी

के हृदय-पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेंगी, इसमें कुछ भी सदेह नही। भारतीय समाज की सस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिए गोस्वामी जी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु गोस्वामी जी परम्परा-रक्षा के लिए ही एकमात्र यत्नवान् न थे। वे समय की स्थितियों और आवश्यकताओ को भी समझते थे तथा समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने के प्रयास भी उन्होने किए। आचार-सम्बन्धी जितनी शुद्धि और परिष्कार उन्होंने किया वह सब जातीय जीवन को दृढ करने मे सहायक बना। यह तो नही कहा जा सकता कि तुलसीदास जी परम्परा या रूढियो के बधन से सर्वथा मुक्त थे, तथापि सस्कृति की रक्षा और उन्नयन के लिए उन्होने जो महान् कार्य किया उसमे इस बन्धन का कुप्रभाव नगण्य-सा है। उनके गुणो का विशाल ऋण हिन्दू-समाज पर है और चिर दिन तक रहेगा। इस अकाट्य सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है ?

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमे कार्य-कारण सम्बन्ध प्राय ढूढा और पाया जाता है। एक काल-विशेष के कवियो को यदि हम फूल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो को फल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फल-स्वरूप ग्रन्थकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के फल स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो के फूल-स्वरूप होगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लडी के समान होगा। जिसकी भिन्न कडिया उस साहित्य के काव्यकार होगे। इस सिद्धात को सामने रखकर यदि हम तुलसीदास जी के सबध मे विचार करते है, तो हमे पूर्ववर्ती काव्यकारो की कृतियो का क्रमश विकसित रूप तो तुलसीदास जी मे दख पडता है, पर उनके पश्चात् यह विकास, आगे बढता हुआ नही जान पडता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदास जी मे हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास सम्पन्न हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमोन्नत विकास की परम्परा बन्द हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की

और उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जी के हिन्दी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरमसीमा तक पहुच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नही रह गया। इसमे गोस्वामी जी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पडती है। गोस्वामी जी के पीछे उनकी नकल करने वाले तो बहुत हुए पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढकर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सके। हिन्दी कविता के कीर्ति मन्दिर मे गोस्वामी जी का स्थान सबमे ऊंचा और सबसे विशिष्ट है। गोस्वामी जी के काव्य मे रामभक्ति की परम्परा और उसका उत्कर्ष पराकाष्ठा पर पहुच गया है। उनके पश्चात् यह रामभक्ति की धारा उतनी प्रशस्त नही रह गई। कविता के क्षेत्र मे तो यह क्षीण ही होती चली गई। तुलसीदास जी के पश्चात् रामभक्ति में साम्प्रदायिकता की मात्रा बढी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस साम्प्रदायिकता मे तुलसीदास जी के काव्य का प्रचार तो बहुत हुआ, पर परवर्ती कवियो के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।

५

तुलसी का लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित है। मानव-जीवन की पूर्णता इन तीनो के मेल के बिना नही हो सकती। पर देश-काल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक मे जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिए शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिए कोई न कोई महात्मा उठ खडा होता है। एक बार जब कर्मकाड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदो के ज्ञानकाड की ओर लोग प्रवृत्त किए गए। कुछ दिनों मे फिर कर्मकाड प्रबल पडा और यज्ञों म पशुओ का बलिदान धूमधाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्मकाड से बिलकुल हटाकर अपने ज्ञान-वैराग्य मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म मे 'उपासना' का भाव नही था, इससे साधारण जनता की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यत वृद्धि से उत्पन्न विषमता को हटाने के लिए जो मत प्रवर्तित हुए, उनमे उनके स्थान पर दूसरे अवयव का हद से बढना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हद पर पहुचकर जनता

फिर पीछे पलटती है और क्रमश. बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह उलट-फेर, चक्रगति के रूप मे, होता चला आ रहा है । जब जन-समाज नई उमग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ मे पडकर किसी एक हद से दूसरी हद पर पहुचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरी हद तक जाना पडता है । जिन मत-प्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण मे देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिमाण के प्रति नही रह जाता किंतु उस वस्तु तक पहुचता है । चिढने वाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा में चिढने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने मे परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इनसे नये-नये मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शान्ति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशांति ही होती आई है । धर्म के सब पक्षो का ऐसा सामजस्य जिसमें समाज के भिन्न भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें, यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाए तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाए ।

उपर्युक्त सामजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नये-नये सम्प्रदायो की खींचतान के कारण आर्यधर्म का व्यापक स्वरूप आखों से ओझल हो रहा था, एकागदर्शिता बढ रही थी। जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखने वालों को बुरा-भला कहता था । शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच मे मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ जनता को साथ लगाने वाले कई नये-नये पथ निकल चुके थे । जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का अशिक्षित रग ढग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों का

उपहास, वेदांत के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करने वाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ-साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नये पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। उधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी 'सतगुरु के प्रसाद' मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः 'सतगुरु' भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग झाँझ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात।' ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। 'भक्ति' के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पंडितों को गालियाँ देते थे और आर्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिए कल्याणकर नहीं थी। जिस समाज में बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दलन करने वाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जाएँ, वह कदापि फल-फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।

'भक्ति' का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेद-विहित कर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया। ऐसे सर्वांगदर्शी लोक-व्यवस्थापक महात्मा के लिए मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के चरित्र से बढ़कर अवलम्ब और क्या मिल सकता था! उसी आदर्श चरित्र के

भीतर अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के नव रूपों को दिखाकर भक्ति का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करने वाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सताने वालों का जो सहार किया जाता है, कठिन कर्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम ससार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से ससार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपच विधाता।।

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्पर कर दे किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे, पर सर्प, दुर्जन और क्रूर ससार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि ये उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्त्तव्य की, सारे जीवन-प्रयत्न की इतिश्री हो जाएगी। यदि एक गाल में चपत मारने वाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्व कैसे दिखाया जाएगा ? प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग-अलग है, तभी तक उसका नाम जगत् या ससार है। अत ऐसी दुष्टता सदा रहेगी जो सज्जन के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती, ऐसा अत्याचार सदा रहेगा जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। ससार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोक धर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके

लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊचे से ऊचे ले जा सकती है जहा वह लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियो का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतो मे साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए, उनका पालन अलग-अलग कुछ व्यक्तियो ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नही किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्याय-पूर्वक अग्रसर होने वाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नही फेरा। वहा भी समष्टिरूप मे जनता के बीच लोक-धर्म ही चलता रहा। अत' व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशो की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखण्ड ही नही है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोक-मर्यादा का उल्लघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दम्भ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद-शास्त्र की निंदा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामीजी की अतरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोक-विरोधी स्वरूप गोस्वामी जी ने खूब पहचाना। समाज-शास्त्र के आधुनिक विवेचको ने भी लोक-सग्रह और लोक-विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग के चार विभाग ये है— लोक-सग्रही, लोक-बाह्य, अलोकोपयोगी और लोक-विरोधी।[1] लोक-सग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा मे तत्पर रहते हैं और भिन्न-भिन्न वर्गों के परस्पर सम्बन्ध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा मे रहते हैं। लोक-बाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं।

१. द इ सोशल क्लासेज आर—द सोशल, द नान-सोशल, द सूडोसाशल, ऐंड द ऐंटी-सोशल—गिडिंग कृत 'द प्रिंसिपल आव सोशियालाजी'

अलोकोपयोगी वे है जो समाज मे मिले तो दिखाई देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नही होते, जैसे आलसी और निकम्मे, जिन्हे पेट भरना ही कठिन रहता है। लोक-विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियो और अपराधियो को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुंचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप मे नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप मे प्रकट करते है।

अशिष्ट सम्प्रदायो का औद्धत्य गोस्वामीजी नही देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तो को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे, जैसा कि गोस्वामीजी के इन वाक्यो से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान बिहीन ।।

धर्म व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करने वाले नये पथो के प्रति इसीसे उन्होंने अपनी चिढ कई जगह प्रकट की है, जैसे—

स्नुति सम्मत हरिभक्ति-पथ सजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पथ अनेक ।।

* * *

साखी, सबदी, दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहि बेद पुरान ।।

उत्तरकाड म कलि के व्यवहारो का वर्णन करते हुए वे इस प्रसग मे कहते हैं—

बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि दिखावहिं डाँटि ।।

जो बातें ज्ञानियो के चिंतन के लिए थी, उन्ह अपरिपक्व रूप में *अनधिकारियो के आगे रखने स लोक-धर्म का तिरस्कार अनिवार्य था।* 'शूद्र' शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नही है, विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है। समाज मे मूर्खता का प्रचार,

बल-पौरष का ह्रास, अशिष्टता की वृद्धि, प्रतिष्ठित आदर्शों की उपेक्षा कोई विचारवान् नही सहन कर सकता। गोस्वामीजी सच्चे भक्त थे। भक्ति-मार्ग की यह दुर्दशा वे कब देख सकते थे? लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिए, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खडे करने के लिए, उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया, जिसके बल से लोगो ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उसपर मुग्ध हुए। 'कलिकलुप-विभजिनी' राम-कथा घर-घर धूमधाम से फैली। हिन्दू धर्म मे नई शक्ति का सचार हुआ। 'स्रुति-सम्मत हरिभक्ति' की ओर जनता फिर से आकर्षित हुई। रामचरितमानस के प्रसाद से उत्तर भारत मे साप्रदायिकता का वह उच्छृखल रूप अधिक न ठहरने पाया जिसने गुजरात आदि मे वर्ग के वर्ग को वैदिक सस्कारो से एकदम विमुख कर दिया था; दक्षिण मे शैवो और वैष्णवो का घोर द्वन्द्व खडा किया था। *यहा की किसी प्राचीन पुरी मे शिवकाची और विष्णुकाची के* समान दो अलग-अलग बस्तिया होने की नौबत नही आई। यहा शैवो-वैष्णवो मे मार-पीट कभी नही होती। यह सब किसके प्रसाद से? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रसाद से। उनकी शाति-प्रदायिनी मनोहर वाणी के प्रभाव से जो सामजस्य-बुद्धि जनता मे आई, वह अब तक बनी है और जब तक रामचरितमानस का पठन-पाठन रहेगा, तब तक बनी रहेगी।

शैवो और वैष्णवो के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस मे स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणेशखड मे शिव हरिमत्र के जापक कहे गए है। उसके अनुसार उन्होने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामीजी ने दोनो का महत्त्व प्रतिपादित किया। राम के मुखारविंद से उन्होने स्पष्ट कहला दिया कि—

सिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

वे कहते हैं कि 'शकर-प्रिय, मम द्रोही, शिवद्रोही, मम दास' मुझे पसद नही।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामजस्य स्थापित नही किया, बल्कि भिन्न-भिन्न उपास्य देवो के कारण जो भेद दिखाई पडते थे, उनका भी एक म पर्यवसान किया। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिन्दू समाज की रक्षा के लिए—उसके स्वरूप को रखने के लिए—कितन महत्त्व का था।

तुलसीदास जी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे, पर लोकरीति के अनुसार अपने ग्रथो मे गणेशवदना पहले करके तब वे आगे चले हैं। सूरदास जी ने 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो' से ही ग्रथ का आरम्भ किया है। तुलसीदास जी की अनन्यता सूरदास से कम नही थी, पर लोकमर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी। सूरदास जी की भक्ति मे लोक-सग्रह का भाव न था। पर हमारे गोस्वामी जी का भाव अत्यन्त व्यापक था—वह मानव-जीवन के सब व्यापारो तक पहुचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारो के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष है। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिए मानो राम ने रावण का असत् रूप खडा किया। 'मानस' के आरम्भ मे सिद्धानकथन के समय तो वे 'सीयराम-मय सब जग जानी' सबको 'सप्रेम प्रणाम' करते हैं, पर आगे व्यवहार-क्षेत्र म चलकर वे रावण के प्रति 'शठ' आदि बुरे शब्दो का प्रयोग करते हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयगम करने के लिए उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ-साथ मनुष्य जाति आदिम काल से ही आत्मरक्षा के लिए परोक्ष शक्तियो की उपासना करती आई है। इन शक्तियो की भावना वह अपनी परिस्थिति

के अनुरूप ही करती रही। दुखो से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुखो का आना न आना बिलकुल अपने हाथ मे नही है, यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियो द्वारा प्रेरित समझा। अत बलिदान आदि द्वारा उन्हे शात और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पडा। इस आदिम उपासना का मूल था 'भय'। जिन देवताओ की उपासना असभ्य दशा मे प्रचलित हुई, वे 'अनिष्टदेव' थे। आगे चलकर जब परिस्थिति ने दुख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकाक्षा का अवकाश दिया, तब साथ ही देवो के सुख-समृद्धि विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओ को हम इसी रूप मे पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धनधान्य, ऐश्वर्य, विजय सब कुछ देते थे, पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। ब्रज के गोपो ने जब इन्द्र की पूजा बन्दकर दी थी, तब इन्द्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति माननी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोकधर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज मे हो चुकी थी, पर उनका सम्बन्ध प्रचलित देवताओ के साथ नही स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले, अधर्म और दु:शीलता पर कोप करनेवाले नही हुए थे, वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा मे त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञान-मार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था, पर वह ब्रह्म लोक-व्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नही था। धीरे-धीरे उसके व्यावहारिक रूप, सगुण रूप की तीन रूपो मे प्रतिष्ठा हुई—स्रष्टा, पालक और सहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपो की अभिव्यक्तिपर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने चट दया, दाक्षिण्य, क्षमा, उदारता,

वत्सलता, सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोक-पालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में 'इष्टदेव' की प्रतिष्ठा हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जनसमाज आशा और आनन्द से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिए बार-बार आते हुए साक्षात् दिखाई पडे। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमे देखें *वही 'इष्टदेव' है—हमारे लिए वही सबसे बड़ा है—*

तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबही तें होइ।
लहै बडाई देवता 'इष्टदेव' जब होइ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अन्तर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोक-मर्यादापालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे रूखे ढंग से 'उपासना' कहते हैं, उसीने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम-परिपुष्ट होकर 'भक्ति' का रूप धारण किया है। व्यष्टिरूप मे प्रत्येक मनुष्य के और समष्टिरूप म मनुष्यजाति के सारे प्रयत्नो का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अत ईश्वरत्व के तीन रूपों म स्थिति विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुच सकी। या यों कहिए कि भक्ति की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवो मे ही हुआ।

तुलसीदास के समय म दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायो के अनुयायी थे, जो अपने उपदेशों म दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगो को आकर्षित करते। समाज की व्यवस्था मे कुछ विकार आ जाने से ऐसे

लोगों के लिए अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है, अत ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अत उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष न रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते-पुरजे का आदमी ऐसे लोगों को संग में लगाकर 'प्रवर्त्तक', 'अगुआ', 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखने वाले दो-चार होंगे तो ऐसे लोग पचीस। किसी समुदाय के मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्त्तक' बनने का हौसला रखने वाले समाज के शत्रु हैं। यूरोप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा संघ निर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत जल्दी सफलता प्राप्त कर लेते है। यूरोप में जितने लोक-विप्लव हुए हैं, जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है, सब में जनता के वास्तविक दुःख और क्लेश का भाग यदि ½ था तो विशेष जन समुदाय की नीच प्रवृत्तियों का भाग ½। 'क्रांतिकारक', 'प्रवर्त्तक' आदि कहलाने का उन्माद यूरोप मे बहुत अधिक है। इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहां का समाज छिन्न भिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए, एक मेम साहब पति-पत्नी के सम्बन्ध पर व्याख्यान देती फिरती थी कि कोई आवश्यकता नहीं कि स्त्री पति के घर मे ही रहे।

भक्त कहलाने वाले एक विशेष सम्प्रदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ रहा था, उस समय भक्ति-मार्ग के भीतर ही एक ऐसी सात्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रकाश में लोक-धर्म के छिन्न भिन्न होते हुए अंग भक्ति-सूत्र के द्वारा ही फिर से जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा बंगदेश मे, अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के

द्वारा उत्तर भारत मे प्रेम की जो धारा वही, उसने पथवालो की परुष वचनावली से सूखते हुए हृदयो को आर्द्र तो किया, पर वह आर्य-शास्त्रानुमोदित लोक-धर्म के माधुर्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया। हिंदू समाज मे फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से चढने न पाया। हिंदू जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास को भुलाने, कई सहस्र वर्षों के सचित ज्ञानभडार से वचित रहने, अपने प्रात स्मरणीय आदर्श पुरुषो के आलोक से दूर पडने से बच गई। उसमें यह सस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सासारिक कर्तव्यो से विमुख, कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देने वाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि ससार के चलते व्यापारों मे मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रणक्षेत्रो मे अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलाने वाले, प्रभूत शक्ति-सम्पन्न होकर भी क्षमा करने वाले अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरजन करने वाले, मैत्री का निर्वाह करने वाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले, बडो की आज्ञा का आदर करने वाले, सपत्ति मे नम्र रहने वाले, विपत्ति मे धैर्य रखने वाले प्रिय या अच्छे ही लगते है, यह बात नही है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलबन है, धर्म के दृढ प्रतीक है।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियो ने श्रीकृष्ण के शृगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान् के लोक-सग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौदर्य का साक्षात्कार नही कराया। कृष्णोपासक भक्तो के सामने राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान् की लोक-धर्म स्थापना का मनोहर चित्रण नही किया गया। अधर्म और अन्याय से सलग्न वैभव और समृद्धि का जो विच्छेद उन्होंने कौरवो के विनाश द्वारा कराया, लोक-धर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने सभाला, शिशुपाल के प्रसग मे क्षमा और दड की

जो मर्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार ध्वस्त न होने वाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलबन की व्यवस्था उन्होंने जरासध-वध द्वारा की, उसका सौंदर्य जनता के हृदय मे अकित नही किया गया। इससे असस्कृत हृदयो मे जाकर कृष्ण की शृगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच-कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ।

जहा लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहा कर्ममार्गी गृहस्थो के लिए लोक-धर्म का ही अवलबन श्रेष्ठ है। यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसगत उपायो से नही हो सकता तो कुटिल नीति का अवलबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नही है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टात से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नही सकता। भारतीय जन-समाज मे लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियो के आक्रमण को व्यर्थ करने मे देश अधिक समर्थ होता।

रामचरित के सौंदर्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नही हुआ। वैरागियो का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप मे साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ सस्कार हुआ। दक्षिण मे रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का सचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखो ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदू जनता शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह को रामकृष्ण के रूप मे और औरगज़ेब को रावण और कस के रूप मे देखने लगी। जहा लोक ने किसीको रावण और कस के रूप मे देखा कि भगवान् के अवतार की सभावना हुई।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य से ज्ञान, वैराग्य का भी

निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सबसे अधिक उपकार गृहस्थो के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति मे उन्हें पुकारकर कुछ कहते हुए पाते हैं और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अतर्गत है, उससे बाहर नही। मान-अपमान से परे रहने वाले सतो के लिए तो वे 'खल के वचन सत सह जैसे' कहते हैं, पर साधारण गृहस्थो के लिए सहिष्णुता की मर्यादा बाधते हुए कहते हैं कि 'कतहुँ सुधाइहु तें बड दोषू'। साधक और ससारी दोनो के मार्गों की ओर वे सकेत करते हैं। व्यक्तिगत सफलता के लिए जिसे 'नीति' कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है।

साराश यह कि गोस्वामी जी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परपरा के भक्त जो प्रेम मे मग्न होकर ससार को भूल रहे थे, दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शो के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे, और तीसरे वे जो, हठयोग[1], रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियो की व्यर्थ आशा का प्रचार कर रहे थे। इन तीनों वर्गो के द्वारा साधारण जनता के लोक धर्म पर आरूढ होने की सभावना कितनी दूर थी, यह कहने की आवश्यकता नही। आज जो हम फिर झोपडो मे बैठे किसानो को भारत के 'भायप भाव' पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद मे। धन्य है गार्हस्थ्य जीवन म धर्मालोकस्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर-घर पहुचाने वाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमे नई शक्ति का सचार हुआ। जो कुछ भी नही जानता, वह भी यह जानता है कि—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥

स्त्रियां और कोई धर्म जानें, या न जानें, पर वे वह धर्म जानती हैं

---

१ गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।—कवितावली

जिससे संसार चलता है"। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

वृद्ध, रोग-बस, जड़, धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं; उस भार को उतारने वाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुम्भकर्ण की नहीं। गोस्वामी जी ने 'रामचरित-चिन्तामणि' को छोटे-बड़े सबके बीच बाट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबाजी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रान्ति न जान पड़े, आनन्द और उत्साह के साथ लोग आप से आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धर-पकड़ और जबरदस्ती से नहीं। जिस धर्म-मार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है, वह चरित्र-सौंदर्य के साक्षात्कार से आनन्दमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते-चलते चौड़ी होकर वह सीधा राजमार्ग हो सकती है; जिसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी कहते हैं—

गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो।

प्रो० वारान्निकोव

६

तुलसी के दार्शनिक विचार

[तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वारान्निकोव का कथन है कि तुलसीदास ने बहुत से दार्शनिक मतों का उल्लेख किया है किन्तु वे उनमें से किसी एक का पूर्ण निश्चय और विश्वास के साथ अनुसरण नहीं करते। इसके पश्चात् यह रूसी लेखक उन दार्शनिक सिद्धांतों की विवेचना करता है जिनका मानस में उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कोई भी दार्शनिक पक्ष छूटने नहीं पाया है।]

किसी एक दार्शनिक मतवाद के पूर्ण अनुसरण के अभाव का विशेष कारण है और वह है तुलसी की स्थिति। तुलसी किसी दार्शनिक तन्त्र के प्रवर्तक या आचार्य न होकर प्रधानतया भक्त हैं। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्त की विचारणाओं और मान्यताओं का भी आधार दर्शन ही है फिर भी उसका सिद्धान्त पक्ष और आचार पक्ष दार्शनिक और भक्त के बीच अन्तर पैदा कर देता है। आलोचकों द्वारा तुलसी के भक्ति-साधन-सम्बन्धी आचार पक्ष और दार्शनिक मत-सम्बन्धी व्यवहार पक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष में दोनों पूरी-पूरी तरह बरतने के सम्बन्ध में द्वैत और अद्वैत या विशिष्टाद्वैत का विवाद उठता है। निगुण तथा सगुण पक्ष का झगड़ा भी इसी प्रकार ज्ञान और भक्ति के माध्यम और उसकी प्रधानता का द्वन्द्व है। ब्रह्म, जीव और विश्व (माया) के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप के विषय में तुलसी दार्शनिक के रूप में जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वह

भक्त तुलसी को मान्य होते हुए भी, ज्ञानगम्य होने हुए भी, सच्ची अनु-भूति के न होने के समय तक कतिपय कठिनाइयां उपस्थित करता है। दार्शनिक के रूप में ज्ञान और तर्क के सहारे तुलसीदास अद्वैत की स्थिति में पहुचते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की ही सत्ता है—'अज-अद्वैत अगुन हृदयेसा'। वह 'ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया गुन गो पार' है। 'जीव या आत्मा' ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतना, अमल या सुखराशी है; और माया तथा भासमान ससार मिथ्या और भ्रम है—

देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥

ज्ञानोदय पर ही पता लगता है कि माया मिथ्या है—'समुझै मिथ्या सोपि।' इसी तरह दृश्यमान ससार उसी प्रकार भ्रमात्मक है और उसका अस्तित्व मिथ्या है जैसे कि 'रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।' इस प्रकार जब सत्ता केवल ब्रह्म की ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नही है और केवल यही सत्ता है तो ससार के (माया-कृत) जो सुख-दुख, स्वर्ग-नरक, सत् असत्, पाप-पुण्य आदि के भेद हैं वे भी अवास्तविक और निस्सार हैं। इसलिए पूर्ण ज्ञानोदय की स्थिति अद्वैत की स्थिति है, जिसमें इन भेदो की ओर दृष्टि ही नहीं जाती और इनकी विषमता तथा इनका भेद-भाव स्वत लुप्त हो जाता है। सच्ची स्थिति तो यही है कि इन द्वन्द्वो की ओर दृष्टि ही न जाए। इनमें भेद-भाव लक्षित करना ही 'अविवेक' है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखियहि देखिय सो अविवेक॥

दार्शनिक के रूप में ज्ञान पक्ष की बात बताते हुए तुलसीदास अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं किन्तु भक्त तुलसीदास जानते हैं कि अद्वैत का यह लक्ष्य मान्य होते हुए भी यो ही नही प्राप्त हो जाता। अद्वैत की भाव-भूमि तक पहुचने के पहले साधना और व्यवहार के क्षेत्र में भेद-भाव (भेद-भक्ति) किसी न किसी रूप में बना रहता है। भक्त जानता है कि ज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं है। केवल जानने मात्र से ही

कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। जब तक सच्ची आत्मानुभूति न जगे, और जब तक साधना पूर्ण न हो तब तक भेद की भावना मिथ्या होते हुए भी अनिवार्य रूप से साथ लगी रहती है। भक्त और भगवान् तथा साधक और साध्य के बीच इसी कारण भेद की प्रतिष्ठा व्यावहारिक रूप में हो जाती है, और दार्शनिक तथा भक्त की ब्रह्म, जीव और माया-सम्बन्धी भावना में तात्त्विक अन्तर होते हुए भी कुछ भेद हो जाता है। दार्शनिक के 'अकल अनीह अनाम अरूपा' निर्गुण ब्रह्म को भक्त के प्रेम-वश उसके आधार के लिए सगुण ब्रह्म बनना पड़ता है—'अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।' इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जीव या आत्मा ब्रह्म स्वरूप है किन्तु फिर भी भक्त इस बात का अनुभव करता है कि चेतन आत्मा जड़ माया के वश हो गई है। यह पराधीनता यद्यपि मिथ्या है किंतु फिर भी व्यवहार में यह भ्रम बना ही रहता है।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

माया की सत्ता भी कुछ इसी प्रकार की है। माया का प्रपंच स्वप्नवत् है, फिर भी यह असत्य होते हुए भी दुःख देता है, 'एहि विधि जग हरि आश्रित रहई, जदपि असत्य देत दुख अहई।' इस प्रकार भक्ति के साधनात्मक क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनना पड़ता है, आत्मा या जीव की मायाबद्धता स्वीकार करनी पड़ती है और माया का किसी न किसी रूप में अस्तित्व मानना पड़ता है। अस्तित्वहीन होते हुए भी ब्रह्म और जीव के बीच माया का व्यवधान आ जाता है—'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी,' और भेद का प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत की अभिव्यक्ति के साथ जो द्विविध रूप मानस में दिखाई पड़ता है वह आदर्श और व्यवहार में निहित भेद और दार्शनिक तथा भक्त की विभिन्न आवश्यकताओं के कारण है। किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का जो पूर्ण अनुसरण मानस में नहीं दिखाई पड़ता उसके मूल में भी दार्शनिक और भक्त की

विभिन्न आवश्यकताएं और प्रक्रियाएं है। मानस का आदर्श श्रीमद्भागवत है और जिसमें बहुत-सी सामग्री भी उसीसे ली गई है। भागवत में दार्शनिक पक्ष निश्चित नहीं है; वैसे ही मानस में भी यह पक्ष स्पष्ट नहीं है। दोनों में भक्ति का विवेचन और सम्बन्ध स्पष्ट है।

दार्शनिक और भक्त का जो प्रमुख भेद है वह दोनों की साधना पद्धति का भेद है जिसे काकभुशुण्डि और लोमश ऋषि के संवाद और ज्ञान-दीप तथा भक्ति-चिन्तामणि के रूपक द्वारा बताया गया है। ज्ञानी का सहारा तर्क है और भक्त का अनुभूति। भक्त ज्ञान को अमान्य नहीं ठहराता, फिर भी उसको जानने मात्र से तृप्ति नहीं होती, उसे तो हृदय में उसकी अनुभूति चाहिए। कवि ने 'विनयपत्रिका' में उसे बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है कि केवल कथन मात्र या ज्ञान मात्र माया से मुक्त करने में समर्थ नहीं है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दीपक की बात करने से घर का अंधेरा नहीं दूर होता—

वाक्य-ज्ञान-अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहीं होई॥

इसी प्रकार भोजन का बखान करने से भूख नहीं मिटती। सच्ची तृप्ति का अनुभव तो उसीको होता है जो कि भोजन करता है चाहे वह उस विषय में कुछ भी न कहे, कुछ भी न बोले—

षट रस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले संतोष जनित सुख खाइ सोइ पै जानै॥

भक्त इसी प्रकार का है, वह कहता नहीं फिर भी भोजन की तृप्ति-सुख का अनुभव उसीको हो रहा है। लोमश ऋषि के निर्गुण के प्रतिपादन को काकभुशुण्डि ने इसीलिए न अपनाया क्योंकि उससे उनके हृदय की भूख नहीं मिट रही थी, हृदय की तृप्ति नहीं हो रही थी। वे जिससे पूछते थे वह यही कह देता था कि ईश्वर सर्व भूतमय अहई; किन्तु इतने से उनको सन्तोष न हुआ—

जेहि पूछहुँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्ब भूत मय अहई ॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई ॥

आचरण और अनुभूति पर अधिक आग्रह के कारण ही भक्त ज्ञान के सिद्धान्त कथनमात्र को अधिक महत्त्व नही देता।

भक्त ज्ञान को इसलिए भी अधिक महत्त्व नहीं देता कि वह जानता है कि ज्ञान 'कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक'। तुलसीदास जी ने ज्ञान की कठिनता और भक्ति की सुगमता का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि उस सम्बन्ध मे कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की ओर भक्त इसलिए भी अधिक प्रयत्नशील नही होते कि उसमे अह की भावना का कुछ न कुछ लेश हो ही जाता है। साधना के मार्ग मे भक्त के सबसे बडे शत्रु अह और दभ के भाव हैं। इसीसे वह अपने कर्तव्य और अपनी शक्ति पर गर्व न कर भक्ति मार्ग के सच्ची सहायिका निरवलबता, अनन्यता और भगवत्कृपा का ही सहारा लेता है। नारद और शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों मे पहला सूत्र ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य की अपनी साधना और प्रयत्न से नहीं प्रत्युत भगवत्कृपा से ही सब कुछ होता है भगवत्कृपा से ही भ्रम का नाश होता है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥

ज्ञानोदय भी भगवत्कृपा से ही होता है। राम की कृपा के बिना उसकी प्रभुता को नही जाना जा सकता है—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥

और सच्चा ज्ञान उसी भक्त को प्राप्त होता है जिसपर प्रभु की कृपा होती है। ब्रह्म को जानकर वह ब्रह्म हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

भक्ति पर कवि ने इसलिए भी विशेष आग्रह दिखाया है कि कवि के मतानुसार ज्ञान मुक्ति के अधीन है और भक्ति स्वतंत्र है। ज्ञान का चरम लक्ष्य मुक्ति भी भक्त को भक्ति की साधना के बीच स्वतः प्राप्त हो जाती है यद्यपि वह न इस ओर प्रयत्नशील होता है और न इसे चाहता ही है—

राम भगति सोइ मुकुति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं।
(अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने।)

भगवत्कृपा की अमोघ शक्ति का वर्णन इसी प्रकार विनयपत्रिका में भी कवि ने बहुत किया है। मानस के प्रबन्ध काव्य होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत कम अवकाश था। विनयपत्रिका में भक्त की दीनता और भावावेश के बीच भगवत्कृपा का वर्णन बहुत हुआ है। और रामनाम का महत्त्व बताया गया है। जिस प्रकार कवि मानस में राम-भजन के सम्बन्ध में यह कहता है कि—

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिय राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥

उसी प्रकार विनयपत्रिका में भी राम-नाम का प्रभाव प्रकट करता है।

तुलसी भक्त के रूप में रामचरित की व्याख्या करते हैं। संक्षेप में उनका सिद्धान्त है—राम भजन। भेद भक्ति (जिसमें उपासक और उपास्य की पृथक् सत्ता रहती है) उसका साधन है (मानस में नवधा भक्ति का निर्देश किया गया है।) और साध्य मन का विश्राम है और यह सब भगवत्कृपा से प्राप्य है, अन्य प्रकार से नहीं।

इस प्रकार तुलसी दर्शनशास्त्र में निष्णात होते हुए भी दार्शनिक नहीं हैं। उन्होंने रामचरितमानस का प्रणयन किसी दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा के लिए न कर रामभक्ति के प्रचार के लिए किया था। उनका लक्ष्य दर्शन या ज्ञान न था, वरन् भक्ति थी।

तुलसीदास ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर जो विशेष आग्रह दिखाया

है उसमें उनकी व्यक्तिगत रुचि ही कारण नहीं है, भक्ति उस युग की पुकार थी और समाज की परम आवश्यकता थी। जिस प्रकार भक्ति का आधार दर्शन पर टिका है उसी प्रकार उसका सामाजिक पक्ष भी है।

भक्ति का सामाजिक पक्ष उसके दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में स्पष्ट हो जाता है। भक्ति के क्षेत्र में समानता के अधिकार की घोषणा सभी भक्त और आचार्यों ने की है। भक्ति का अधिकार सभी को है। ईश्वर के समक्ष धनी, निर्धन, सब बराबर हैं, न कोई ऊंचा है और न कोई नीच। राम को केवल भक्ति का सम्बन्ध ही मान्य है—'मानउँ एक भगति कर नाता'। भक्तिहीन कुलीन व्यक्ति जलशून्य मेघ के समान है। यह उक्ति तो भक्ति-क्षेत्र में अत्यन्त प्रचलित है—'जात पांत पूछे नहिं कोई हरि को भजै सो हरि का होई'। भक्ति के सिद्धान्त ने इस प्रकार समाज में प्रचलित भेद भाव को कम करने का प्रयत्न किया।

समानता के सिद्धान्त की घोषणा के साथ विद्वेष की निंदा भी स्पष्ट शब्दों में की गई है। जिस प्रकार व्यक्ति को विद्वेष से विरत किया गया, उसी प्रकार समाज में प्रतिष्ठित अनेक धर्मों में देवताओं में विद्वेष को बुरा बताया गया। किसी भी देवी देवता की निंदा को वैष्णव भक्ति ने अक्षम्य कहा। स्वयं तुलसीदास ने शिव और राम दोनों के प्रति पूज्य भाव को प्रदर्शित किया। शिव की सेवा से ही राम के चरणों में अविरल भक्ति होती है।

इस प्रकार भक्ति के इन दोनों सिद्धान्तों द्वारा भी बहुत बड़ा कार्य हुआ। समानता के सिद्धान्तों ने सामाजिक भेद भाव को कम किया, और धर्मों के प्रति समदृष्टि के प्रचार ने धार्मिक उदारता और सामाजिक सामंजस्य के भाव को दृढ़ किया। मध्ययुगीन वैष्णवता के संशोधित रूपों को स्वीकार करते हुए भी तुलसी ने विशेष रूप से समाज की दृढ़ता का ध्यान रखा। उस युग में प्रचलित अनेक पंथों की निंदा उन्होंने इसी लिए की कि वे समाज की समीकरण की शक्ति को क्षीण कर समाज

को शिथिल बना रहे थे। तुलसी को समाज का ध्यान बराबर रहा।

भक्ति का आन्दोलन मध्ययुगीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं से प्रसूत है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर विशेष आग्रह दिखाकर भक्ति के महान् आचार्य एक प्रकार से सामाजिक मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा करना चाहते थे जिनकी जड़ें कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों—विशेषतया अद्वैतवाद—की निरंकुशता या अतिचार के कारण हिल गई थीं। अद्वैत की भूमि पर पहुंचकर तो संसार या समाज के सभी भेद-उपभेद मिथ्या और निस्सार हो जाते हैं, उस स्थिति में तो शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, परोपकार और पीडन सभी निस्सार और व्यर्थ हो जाते हैं। अद्वैत की दृष्टि ने तो त्रासक और त्रस्त दोनों एक हैं। न कोई किसीको त्रास देता है और न कोई त्रस्त होता है। इस प्रकार की अद्वैत की भावना व्यक्ति की साधना का लक्ष्य तो हो सकता है किंतु समाज का सामान्य आदर्श नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में तो समाज का संचालन ही रुक जाएगा। समाज संचालन के लिए तो कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निषेध, करणीय तथा अकरणीय की कोटियां अनिवार्य हैं। समाज संचालन में पापी का दण्ड और पुण्यात्मा का अभिनन्दन आवश्यक है चाहे पारमार्थिक दृष्टि में, दोनों ही सम क्यों न हों। तुलसी की भक्ति ने सहज, सरल और शुद्ध आचरण पर जोर देकर अप्रकट रूप से सामाजिक जीवन के स्तर को ऊपर उठाया और (ज्ञान के अतिचार से सम्भूत) सामाजिक अस्तव्यस्तता और अनुशासनहीनता को रोकने का प्रयत्न किया। यही भक्ति के आन्दोलन का सामाजिक पक्ष है।

हिन्दू समाज का आधार वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था और प्रतिष्ठा है। मध्ययुगीन हिंदू समाज में किस प्रकार अस्तव्यस्तता और अनुशासनहीनता फैल गई थी, लोग किस प्रकार अपने निश्चित कर्तव्यों से विमुख हो रहे थे, इसका तुलसीदास ने मानस में कलियुग के वर्णन के बीच स्पष्ट उल्लेख किया है। वहीं पर उन्होंने बताया है कि शूद्र किस प्रकार अपने को ब्रह्मवेत्ता कहकर ब्राह्मण की भर्त्सना कर रहे हैं। कवि की दृष्टि में

यह सामाजिक अनुशासनहीनता है—

> बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
> जानै ब्रह्म सो विप्रवर आँखि दिखावहिं डाटि ।।

इसी प्रकार कवि का कहना है कि जो लपट और सयाने है वह अपने को अभेदवादी कहते हैं—

> पर-तिय लम्पट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ।।
> तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुग कर ।।

इन शब्दो मे कवि ने अद्वैतवाद के सामाजिक कुपरिणामों की ओर इगित किया है और बताया है कि इसकी मिथ्या भावना किस प्रकार समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न कर उसे शिथिल बनाती है। समाज की दृढता के लिए ही कवि ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर अधिक जोर दिया।

भक्ति का जो व्यक्तिपरक पक्ष है वह भी चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण कर समाज की नीव को पुष्ट ही करता है। नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए भक्ति के साधन का उल्लेख भी तुलसीदास न श्रीरामचन्द्र के मुख से कराया है। उसम *'निज निज करम निरति श्रुति रीति'* म उसका सामाजिक पक्ष स्वत स्पष्ट हो जाता है।

भक्तो का आधार, ससार की क्षणिकता की सतत् अनुभूति, निरवलबता, अनन्यता और उच्च जीवन-यापन है, ससार की निस्सारता उन्ह यह भी बताती है कि ससार के प्रदर्शन, ससार की पाशविक शक्ति और वैभव सब धुआ का धौरहर है—

> जग, नभ वाटिका रही है फलफूलि रे
> धुँआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे।

अत ससार और ससारवासियो से किसी प्रकार की आशा दुराशा ही होगी। यही नही, जो देवता कहे जाते हैं वे भी सम्पन्न नही हैं, वे भी किसी दूसरे का मुह देखते हैं। फिर उन्हे दीनदयाल क्या कहा जाए, वे स्वय दीन दिखाई पडते हैं—'दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ, जासा दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ।' ऐसी मनोदृष्टि चरित्र म

निर्भीकता और दृढ़ता लाती है। ऐसे व्यक्तित्व के लोगों की आत्मा को भय या लालच खरीद नहीं सकता और सांसारिक वैभव के प्रदर्शन उनकी आंखों में चकाचौंध नहीं उत्पन्न कर पाते।

निरवलम्बना उनमें सच्चे दैन्य और विनती का संचार करती है और भक्ति के मद में बड़े शत्रु—दम्भ और अहंभाव—से उनकी रक्षा करती है। दंभ और अहं के लोप से भक्त उस जीवन की ओर प्रवृत्त होते हैं जिसे तुलसीदास सच्ची 'रहनि' समझते हैं। इसी प्रकार अनन्यता भक्त में उस दृढ़ विश्वास की सृष्टि करती है जिसके सहारे भक्त कठिन से कठिन परीक्षा में भी सफल होता है। अनन्यता मन को प्रभु की ओर केन्द्रित कर देती है जिससे मन की चंचलता दूर होती जाती है और वह किसी दूसरे से कोई आशा नहीं रखता है। मानस में तुलसीदास ने राम के मुख से कहलाया है कि जो मेरा दास कहलाकर भी किसी मनुष्य से आशा रखे तो उसके विश्वास के लिए क्या कहा जाए—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा विस्वासा॥

चातक अनन्य प्रेमी का प्रतीक है और भरत अनन्य भक्त हैं। भक्ति के उपकरण इस प्रकार ऐसे व्यक्तित्व का सृजन करते हैं जिसमें विनति के साथ दृढ़ता और निर्भीकता रहती है, जो न भय से ग्रस्त होता है और न लालच से खरीदा जा सकता है, जिसम 'बियर न विग्रह आस न त्रासा', जो खरी परीक्षा में भी अपने उच्च लक्ष्य को नहीं छोड़ता। भक्त का जीवन आदर्शनिष्ठ जीवन हो जाता है।

किन्तु तुलसीदास इसके आगे और भी कुछ कहते है जो भक्ति के उच्च व्यक्तिपरक आचरण को सामाजिक बना देता है। उन्होंने कई स्थलों पर कहा है कि सबसे बड़ा धर्म अहिंसा और परोपकार है, सबसे बड़ा पाप पर-पीड़न है। पर पीड़न से विरत होने में समाज की रक्षा, और परोपकार में समाज के कल्याण की भावना छिपी है—

परम धरम श्रुति विदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गिरीसा॥
परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

जिस प्रकार अहिंसा और परोपकार में समाज की भावना छिपी हुई है उसी प्रकार सन्तो के जो लक्षण बताए गए हैं, उनके उच्च जीवन की जो विशेषताए बताई गई हैं उनमे भी समाज के कल्याण की भावना छिपी हुई है। 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर', 'कोमल चित दीन्हन पर दाया', 'सीतलता समता मइत्री' आदि मे सामाजिक पक्ष भी निहित है। भक्त का जीवन इस प्रकार उच्च नैतिक जीवन का निदर्शन बन जाता है जिससे समाज का कल्याण होता है और जिसका समाज अनुकरण करता है।

भक्ति का वर्णन करते हुए मनुष्य के कर्तव्यो की चर्चा भी की गई है। मनुष्य शरीर भगवत्कृपा का फल है। यह अत्यन्त दुर्लभ है। इसे इद्रिय लोलुपता से अलग कर उच्च आचरण की ओर लगाना चाहिए। जो मनुष्य शरीर धारण कर दूसरो को पीडा पहुचाते हैं वे ससार मे पतित होते हैं—

नर सरीर धरि जे परिपीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥

मनुष्य शरीर की महिमा मानस और विनयपत्रिका दोनो मे कही गई है, यह साधना का स्थल है—'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' ईश्वर कभी-कभी कृपा करके नर शरीर देता है—'कबहुक करि करुना नरदेही, देत ईस बिनु भोग सनेही।' इसे भोग विलास मे न लगाना चाहिए—'एहि तन कर फल विषय न भाई।' यह नर शरीर ससार-सागर को पार करने का यान है। भगवत्कृपा उसे चलाने के लिए अनुकूल वायु है—'नरतन भववारिधि कहुँ बेरो, सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।' अत मनुष्य शरीर को उच्च साधना के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। इन उच्च कर्मों मे परोपकार सर्वोच्च है। विनयपत्रिका मे कवि ने मनुष्य शरीर की सार्थकता परोपकार के सबध से ही निश्चित की है।

स्वय कवि ने अपने लिए जिस आदर्श जीवनयापन की कामना प्रकट की है उसमें भी समाज के कल्याण की पूरी सभावना है, व्यक्तित्व की उदात्तता के साथ दूसरे (या समाज) के उपकार की बात कही गई

है—'परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।'

इस प्रकार भक्ति के प्रचार ने देश को नवीन व्यक्तित्व प्रदान किया जो विनम्र किन्तु दृढ था, जो निर्भीक था, जो अपने विश्वास में अटल था, जिसपर ससार की शान-शौकत का कोई असर न था, और जो अपनी गरीबी में ही मस्त था क्योंकि वह ऐसे प्रभु का सेवक था 'जेहि अति दीन पियारे'। भक्ति के इसी कवच को धारण कर हिंदू जाति अपने प्राचीन धर्म तथा सस्कृति की रक्षा मध्ययुग की उन कठिन घडियो मे कर सकी जब विधर्मी शक्ति ने देश की स्वतत्रता का अपहरण कर लिया था, वह न शासक के भय से त्रस्त हुई और न लोभ मे फसी। भक्ति के सहारे ही देश की जनता विधर्मी शक्ति और शासन के बीच अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रख सकी। देश परतत्र हुआ, किन्तु देश की आत्मा स्वतन्त्र रही।

तुलसी का यह महत्त्वपूर्ण कार्य मेरी दृष्टि से ओझल न रहा। मानस-रचना के समकाल मे तुलसी के देशवासी, विजेताओ द्वारा धून-धूसरित थे और उन्होने (तुलसी ने) अपने काव्य के द्वारा अपने देश की रक्षा के लिए अपूर्व मार्ग प्रदर्शन की चेष्टा की। कहना न होगा कि रक्षा का यह अपूर्व मार्ग भक्ति का ही मार्ग था। इसी भक्तिपथ का अनुसरण कर जनता अपनी सस्कृति की रक्षा कर सकी। यह भक्ति दो चार इने-गिने व्यक्तियो के लिए न थी। उपासना के क्षेत्र में इसने समानता के सिद्धान्त की घोषणा की और इसने समग्र देश को आप्लावित कर दिया। सारे देश ने इसे अपना लिया। तुलसी की वाणी ने ही इस भक्ति को प्रत्येक हृदय मे प्रतिष्ठित कर दिया। सारे देश ने इसे हृदयगम कर लिया। इस प्रकार तुलसी ने अपने काव्य म प्रतिपादित भक्ति के द्वारा जनता का पुनरुत्थान किया। इस कवि की पीयूषवाणी को सुनकर ही जनता जीवित रह सकी, तुलसी की वाणी को सुनकर यहा की जनता को जनार्दन के आश्रय का अटल विश्वास हो गया।

तुलसीदास ने धार्मिक विचार को लेकर मानस मे विभिन्न देवी-देवताओ की स्थिति और शिव तथा विष्णु की उपासना के सामञ्जस्य का प्रधानतया उल्लेख किया है तथा राम की अद्वैतस्थिति और उपासना आदि की चर्चा की है।

भारतीय देवमडल का तीन कोटियो मे विभाजन किया गया है। मानस मे वैदिक देवमडल के उन देवताओ के समावेश के विषय मे, जो कि *अब बिल्कुल गौण हो गए हैं, कहा जाता है कि इनकी* प्रतिष्ठा भारतीय धार्मिक मतवादो की सबसे बडी विशेषता अहिंसा—'हिंसा न करने' के सिद्धान्त की स्वीकृति है, और इसका दूसरा *प्रधान कारण तुलसी के अपने 'कट्टर मतवाद' की रक्षा का प्रयत्न है।* कवि चाहता है कि ये प्राचीन देवता उच्च सम्मान के अधिकारी बन रहें और यह सम्मान उन्हे ऊच-नीच सभी से अनिवार्य रूप मे मिले। *ऐसा न होने से अन्य देवताओ की प्रतिष्ठा को आघात पहुच सकता है।* किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। इन देवताओ के समावेश का प्रधान कारण मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति का आन्दोलन है जिसने देवताओ के *प्रति विद्वेष को निदनीय बताया और देवताओ के प्रति पूज्य बुद्धि रखने* की बात कही।

मेरा यह भी मत है कि मानस म बहुदेववाद से एक दव वाद की प्रवृत्ति है जो सर्ववाद स समन्वित है। तुलसी के काव्य में चित्रित देवमडल के उदाहरण म विभिन्न भारतीय मतवादा द्वारा निर्मित मार्ग बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर (उन्मुख) है, प्राय सर्ववाद से अत्यन्त सपृक्त। वस्तुत ऐसा तुलसी के काव्य मे ही नहीं है प्रत्युत यह भारतीय उपासना की प्रचलित पद्धति है। भारतीय उपासना किसी एक देवी या देवता को ग्रहण कर उसकी ब्रह्मरूप मे भावना करती है और उसकी सर्वव्यापी सत्ता स्वीकार करती है। इस प्रकार बहुत से देवी-देवताओ मे से चुना हुआ देवता सबसे बडा देवता *बन जाता है (एकेश्वरवाद की इस प्रकार प्रतिष्ठा ह जाती है)*

और उसकी व्यापकता सर्ववाद को जन्म देती है। सारी सृष्टि उसीकी अभिव्यक्ति करने लगती है।

इन देवताओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय चित्रित की गई है। ये सभी देवता शक्तिशाली होते हुए भी राम की माया के वश में हैं। राम 'विधि हरि सम्भु नचावनि हारे' हैं और उनकी माया से सभी डरते है, 'सिव चतुरानन जाहि डेराही'। यह देवता स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'भव प्रवाह सतत हम परे'। इनमे इन्द्र सब से अधिक कुटिल और स्वार्थी हैं। इन देवताओं में केवल सरस्वती और गणेश अब भी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। अन्य देवताओं का कोई व्यक्तित्व नही है। वे भगवान् की विनती करते हैं और उनपर फूल बरसाते हैं।

वैदिक देवताओं के साथ 'त्रिदेव' का भी मानस मे समावेश है। इनमे ब्रह्मा की स्थिति सब से गौण है और शिव और विष्णु प्रमुख हैं। शिव और विष्णु मे अविरोध दिखाया गया है। ये दोनों एक दूसरे के प्रेमी हैं। तुलसीदास ने इनका पारस्परिक प्रेम दिखाकर दो प्रधान धार्मिक मतवादों मे सामजस्य स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण चेष्टा की है। शिव की सेवा से ही रामभक्ति प्राप्त होती है—'सिव सेवा कै सुनु फल सोई। अविरल भगति राम पद होई॥' स्वयं श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि शिवद्रोही मुझे अच्छा नही लगता, 'सिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।'

इस धार्मिक सामञ्जस्य के संबध मे यही कहा जा सकता है कवि इसमे राजनीतिक भावना से परिचालित हुआ। वैष्णव और शैव में अनिवार्य रूप मे सामजस्य की राजनीतिक भावना से परिचालित होकर, तुलसीदास प्रायः शिव को सर्वोच्च देवता के रूप मे चित्रित करते हैं। वास्तव में इस सामजस्य के मूल मे कोई राजनीतिक भावना न होकर वैष्णवता की उदार प्रवृत्ति है जो विष्णु को सर्वोच्च देवता मानते हुए भी अन्य देवताओं मे कोई भेद-भाव नही रखती।

मानस मे सर्वोच्च स्थान राम का है। हरि के रूप मे उल्लेख होने

पर भी वे हरि से बड़े हैं, परात्पर ब्रह्म हैं, 'बिधि हरि सम्भु नचावनि हारे' हैं। वे अद्वैत ब्रह्म के सगुण रूप हैं। नर शरीरधारी राम और निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नही है, दोनों एक ही है। ये राम दुष्टो के विनाश और भक्तो की रक्षा के लिए अवतरित होते हैं। भक्तो के प्रेमवश यह अवतार लेते हैं—'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप।' राम की माया से उत्पन्न होकर सभी राम मे समाविष्ट हो जाते हैं। रावण का निधन होने पर उसके शरीर से तेज निकलकर राम मे समा गया। इस प्रकार सब कुछ उस अद्वैत सत्ता से प्रसूत होकर उसीमे मिल जाता है।

यह मिलन या 'लय' ही मुक्ति है। मुक्ति के सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य आदि कई रूप हैं। भगवान् का भक्त 'भेद भक्ति' को अपनाने के कारण मुक्ति की कामना नही करता। भगवान् की लीला मे ही उसे आनद मिलता है, वह मोक्ष नहीं लेता—'सगुन उपासक मोच्छ न लेही।'

राम और कृष्ण के बालरूप की उपासना का वैष्णव काव्य म जो इतना प्रचुर वर्णन मिलता है वह सर्वथा विलक्षण और मौलिक है। ऐसा और कही नही मिलता। यहा तक कि जैसा प्रेम हिंदू राम और कृष्ण के बालरूप के प्रति प्रकट करते है, न तो किसी भी भोली भाली जाति म और न उच्चतम विकसित धार्मिक मतवाद म प्राप्य है।

जन्मान्तरवाद हिंदुओ के धार्मिक विश्वास की विशेषता है। कर्म का सिद्धान्त इसकी आधारशिला या प्रेरक है और आवागमन के चक्कर से छुटकारा या मुक्ति पाना हिंदू धर्म का चरम उद्देश्य है। सृष्टि के क्रम मे अनन्त जीव अनेक योनियो मे अपने कर्मों से प्रेरित होकर भ्रमित होते रहते हैं। इनमे केवल मनुष्य ही ऐसा है जो अपने को ससार-चक्र से मुक्त करने की सम्भावना रखता है, वह विरलरूप से ज्ञान के माध्यम और सुगम रीति से भक्ति के द्वारा माया से मुक्त हो सकता है। मनुष्य का चरम पुरुषार्थ भगवत्प्रेम की प्राप्ति है, ईश्वर ने इसीलिए करुणा से

द्रवित होकर उसे मनुष्य का शरीर दिया है। इस नर शरीर की सार्थकता विषय-भोग में न होकर परोपकार और भक्तिपथ के अनुसरण में है। इस प्रकार तुलसी ने राम-भक्ति को मानव के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

तुलसी के धार्मिक विचारों के अन्तर्गत मानस में प्राप्त हिन्दू धर्म की मुख्य बातों का सक्षेप उल्लेख इस रूप में किया जा सकता है।

अन्यत्र तुलसीदास के सामाजिक एव नैतिक कथन के सबध में मैंने बहुत ही सक्षेप में कवि के सामाजिक विचारो का सकेत दिया है। मैंने बताया है कि तुलसीदास कट्टर सामाजिक व्यवस्था के पोषक है और हिंदू समाज की वर्णव्यवस्था के समर्थक हैं। इसके साथ ही मैंने यह भी कहा है कि कवि ने समकालीन वैष्णवता की जनात्मक प्रवृत्तियो का भी समावेश किया है और बताया है कि राम केवल प्रेम के ही सम्बन्ध को मानते हैं। उनके सामने न कोई ऊचा है और न कोई नीचा।

इस सम्बन्ध में मेरा निष्कर्ष यह है कि 'इस प्रकार तुलसीदास के सामाजिक दृष्टिकोण में स्पष्ट विरोध या विषमता है।'

यों तो तुलसी के वर्ण-व्यवस्था के समर्थन म सामाजिक भेद-भाव की कट्टरता और समानता के सिद्धान्त के प्रचार के बीच आत्मविरोध का आभास होता है, किन्तु ऐसा है नही क्योकि तुलसी ने दोनो के क्षेत्र अलग कर दिए हैं और वे दो विभिन्न सिद्धान्तो का दो विभिन्न क्षेत्रो म प्रयोग करते हैं। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा समाज के दिन-प्रतिदिन के लौकिक सम्बन्धो के बीच मान्य है। वहा पर वे समाज के विभिन्न स्तरों और अनेक रूपात्मक सम्बन्धों का निराकरण नही करते। इसके विपरीत समानता का सिद्धान्त उन्हे केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही मान्य है। यह समानता की दृष्टि केवल उन लोगो के प्रति है जो ससार से ऊपर उठ चुके हैं, साधु या भक्त हो गए हैं। ऐसे लोग जो कि ससार को मिथ्या समझकर उससे विमुख होकर ईश्वरोन्मुख हो गए हैं, उनसे

समाज उनकी जात-पात न पूछेगा । वे चाहे जिस जात के रहे हों, भक्त या साधु हो जाने पर उनको उतना ही आदर और सम्मान प्राप्त होगे जितना किसी दूसरे साधु को जो कि पहले ब्राह्मण था । इस प्रकार भक्तो की श्रेणी मे सभी भक्त समाज द्वारा समान आदर के अधिकारी रहेगे। किंतु जो उच्च आध्यात्मिक भूमि पर नही पहुचे हैं, ससार के बन्धनो मे पडे हैं उनका शासन या अनुशासन समाज के प्रतिष्ठित नियमो के आधार पर ही होगा, उनपर वर्णाश्रम धर्म के नियम लागू होगे। हिन्दू समाज के बीच आज भी ऐसा ही देखने को मिलता है । उनके नैतिक सम्बन्ध तो वर्णाश्रम धर्म के आधार पर ही निर्धारित होते है, किन्तु जब कोई साधु या महात्मा आ जाता है तो वे उसकी अभ्यर्थना करते हैं। उसके चरण धोते है, चाहे पहले वह किसी वर्ण का क्यो न रहा हो, और उससे प्रसाद पाकर कृतकृत्य होते हैं। इस प्रकार वर्ण-भेद और समानता के सिद्धात के क्षेत्र अलग हो जाते है और उनके प्रयोग मे आत्मविरोध नही प्रतीत होता। इसे मैंने भी लक्षित किया है। मैं कह सकता हू कि 'सामाजिक समानता (बराबरी) का सिद्धात उनके (तुलसी) द्वारा केवल उच्चतर पक्ष मे ही स्वीकृत हुआ है ।'

तुलसी का पक्ष बिल्कुल स्पष्ट है। तुलसीदास हिंदू समाज के वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के कट्टर समर्थक है । वे इसे आदर्श व्यवस्था समझते है और इसमें किसी प्रकार की शिथिलता या इसकी अवहेलना उनको सह्य नही है । राम राज्य की आदर्श स्थिति मे लोग इसी वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं और सुखी होते है—सब 'चलहि स्वधर्म निरत श्रुति रीति ।' इसी प्रकार—

> बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
> चलहि सदा पावहि सुख नहि भय सोक न रोग ॥

इसी वर्णाश्रम धर्म के पालन मे जब शिथिलता दिखाई पडती है तो वे इसपर दुख प्रकट करते हैं और उनकी निंदा करते हैं । कलियुग के वर्णन म इन्होंने उस व्यापक अवस्था और उथल-पुथल का चित्रण किया

है जो समाज और परिवार के प्रत्येक क्षेत्र मे छा गई थी। वे कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण अपने धर्म या कर्तव्य के पालन से च्युत हो रहा है। ब्राह्मण विद्या-विहीन हैं, 'विप्र निरच्छर' हैं, जिस प्रकार 'द्विज स्रुति बचक' हैं उसी प्रकार राजा रक्षक न होकर प्रजा का भक्षक है, 'भूप प्रजासन'। शूद्र सेवा करने के स्थान पर 'विप्रन्ह सन पाव पुजावहिं'। समाज की मर्यादा नष्ट हो रही है। अपनी ढपली अपना राग है, 'मारग सोइ जा कहुँ जोई भावा'। लोग नये सम्प्रदाय या 'पथो' की सृष्टि कर रहे है, 'कल्पहि पंथ अनेक' और—

बरन धरम नहि आस्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर-नारी।

परिवार के, जिसपर कि समाज टिका हुआ है, सम्बन्धो मे भी शिथिलता दिखाई पडती है। माता-पिता की प्रतिष्ठा विवाह होने के पूर्व तक ही है। विवाह होते ही 'रिपु रूप कुटुम्ब भए तब ते'। यह अनुशासनहीनता सभी क्षेत्रो मे है। जिसे जो न करना चाहिए वही वह कर रहा है। सौभाग्यवती स्त्रिया 'बिभूषन हीना' है और 'बिधवन्ह के सिगार नवीना'। तपस्वी, जिन्हे त्यागी होना चाहिए, धन-सचयी है और गृहस्थ दरिद्र है—'तपसी धनवन्त दरिद्र गृही है'। सामाजिक अव्यवस्था के इस चित्रण मे तुलसीदास किसी वर्ग को क्षमा नही करते, वे सब की कर्तव्य-अवहेलना की निदा करते है। सामाजिक अव्यवस्था का विस्तृत चित्रण करते हुए तुलसीदास उनकी मर्यादा की पुनःप्रतिष्ठा वर्णाश्रम धर्म के आधार पर ही करते है। वे वर्ण-व्यवस्था मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही चाहते है। कट्टरता के समर्थक-रूप मे वे हमारे सामने आते हैं।

तुलसीदास का यह कट्टर दृष्टिकोण केवल ब्राह्मणो के उच्चाधिकारो की रक्षा मे ही नही, वरन् शूद्र तथा नारी की निम्नस्थिति मे भी व्यक्त होता है। कुछ विद्वानो ने सामाजिक अनुशासन के नाम पर तुलसी के सामाजिक दृष्टिकोण का समर्थन किया है। वास्तव मे हमारा उद्देश्य खडन या मंडन न होकर तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति,

सामाजिक सम्बन्ध तथा उनके मूल का अध्ययन होना चाहिए, क्योंकि तुलसी को हमारे समर्थन या खंडन की कोई अपेक्षा नहीं है।

तुलसी ने ब्राह्मण, शूद्र, नारी आदि की स्थिति, समाज के संघटन, नेता तथा राजा (तथा गुरु) के कर्तव्य, पिता तथा पति के अधिकार, उत्तराधिकार की व्यवस्था और सामाजिक शिष्टाचार तथा मर्यादा के संबंध में जो कुछ कहा है उनमें उनका विश्वास होते हुए भी ये सब कथन उनके अपने नहीं हैं। इनमें से अधिकांश कवि को परम्परा-रूप में प्राप्त हुए हैं और कवि के सामाजिक एवं नैतिक कथनों पर मध्ययुगीन भावना की स्पष्ट छाप है। यहां पर यह भी कह देना चाहिए कि इनमें से अधिकांश आज भी समाज में पूर्ववत् हैं।

हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की उच्च स्थिति तथा शूद्रों की निम्न स्थिति की भावना कई शताब्दियों से चली आ रही थी। मध्ययुग में तो यह भावना और भी दृढ़ थी। जिस प्रकार मध्ययुग 'ईस अंस भव नृपति कृपाला' कहकर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था, उसी प्रकार ब्राह्मण पृथ्वी पर साकार देवता के रूप में मान्य था। वह भूसुर, भूदेव की उपाधि से विभूषित था। राम के राज्याभिषेक की घोषणा के पहले दशरथ वशिष्ठ का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। ब्राह्मण की अधिकारपूर्ण स्थिति का इसीसे पता लग जाता है। ब्राह्मण की अवमानना रामचन्द्र को अच्छी नहीं लगती—'मोहि न सुहाई ब्रह्म कुल द्रोही।' जो ब्राह्मण की निष्कपट सेवा करता है उसके वश में शिव, ब्रह्म तथा राम सभी हैं—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव।।

शूद्र और नारी दोनों की स्थिति निम्नतम है। 'ढोल गवार सूद्र पसु नारी' इसे स्वयं स्पष्ट कर देता है। काकभुशुण्डि अपनी पूर्वजन्म की कथा के सम्बन्ध में निम्न जाति के विषय में कहते हैं—

अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पिआये।।

'शूद्र मारे लतियाये' यह कहावत अभी तक चली आ रही है। मध्ययुग के 'रज़ील' की भावना इसी प्रकार की थी और मुसलमान शासक निम्न जनता का मुख नहीं देखना चाहते थे।

इसी प्रकार नारी की निम्नस्थिति भी उसी युग की भावना है। उस युग में नारी के कोई अधिकार नहीं थे। पति के सम्बन्ध से ही उसकी प्रतिष्ठा निर्धारित होती थी। यह मान्य सिद्धान्त था कि कन्या-रूप में पिता के शासन में, विवाह होने पर पति के अधिकार में और विधवा होने पर वह पुत्र के अधीन रहती है। वह कभी स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र होने पर तो वह बिगड़ जाती है—'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।' वह तो 'सहज अपावनि नारि', शबरी के शब्दों में 'अधम ते अधम अधम अति नारी।' नारी सम्बन्धी उपर्युक्त सभी भावनाएं मध्ययुग की उपज हैं।

इसी प्रकार समाज-सघटन और सचालन के सम्बन्ध में तुलसी की अगागि भाव की जो कल्पना है वह भी काफी प्राचीन है। जिस प्रकार चारों वर्ण उस 'पुरुष' के विभिन्न अग हैं उसी प्रकार विभिन्न वर्ण 'समाज-शरीर' के अग हैं। सर्वोच्च वर्ण मुख की तरह है, नेता है और सवक शरीर के हाथ-पैर और नेत्र के समान हैं। मुखिया को चाहिए कि वह वस्तुओं को ग्रहण करके अन्य अवयवों को विवेक के साथ पुष्ट करे—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहुं एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥
सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति भलि सुकवि सराहहिं सोइ ॥

मुख तथा अन्य अवयवों की लड़ाई की कथा का उल्लेख रोम के इतिहास में 'प्लीबियन' और 'पैट्रीशियन' के अधिकारों के द्वन्द्व के बीच भी मिलता है। जिस प्रकार समाज के चार वर्णों की कल्पना 'पुरुष सूक्त' में जुड़ी है उसी प्रकार यह कथा भी काफी पुरानी है। तुलसी का उपर्युक्त कथन समाज के विभिन्न अवयवों के बीच पारस्परिक सामजस्य की

आवश्यकता को प्रतिपादित कर समाज के सम्यक् सचालन का मार्ग प्रदर्शन कर रहा है और साथ ही समाज की उच्च स्थिति पर विद्यमान लोगो को शेष के प्रति अपने उत्तरदायित्व से अवगत करा रहा है।

नेता के समान राजा के भी कतिपय कर्तव्य हैं। राजा यद्यपि पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, *'ईस अस भव नृपति कृपाला'*, फिर भी वह नियमो से मुक्त नहीं है। वह अपनी प्रजा का पिता है। 'प्रजा' का अर्थ ही सन्तान है। राजा की पिता-रूप मे कल्पना 'कुलज्येष्ठ' (Patriarch) की भावना से सयुक्त है जो कि काफी प्राचीन है। प्रजा का पालन राजा का सबसे बडा कर्तव्य है। कलियुग वर्णन मे तुलसी कहते हैं कि *'नृप पाप परायन धर्म नही, करि दड बिडब प्रजा नित ही।'* *तुलसी का यह* कथन राजनीतिक उथल-पुथल के युग मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।'* तुलसी का यह वर्णन स्वतन्त्रता के सग्राम के बीच जनता को बहुत बल देता रहा है—

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पुर ऐन॥

इसी प्रकार कवि का यह निर्णय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह राजा शोचनीय है जिसे अपनी प्रजा प्राणोपम प्रिय नही है—

सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥

परिवार मे पिता और पति के अधिकार सर्वाधिक हैं। सतान के लिए पिता, और स्त्री के लिए पति ही सब कुछ है। पिता की आज्ञा अनुल्लघनीय है और वही 'धरम करम' है—'पितु आयसु सब धरमक टीका' तथा स्त्री के लिए पति की आज्ञा का अनुसरण ही सब कुछ है— 'नारि धरम पति देव न दूजा।' पितृ भक्ति तो भारतीय संस्कृति मे अत्यन्त प्राचीन है, 'पितृ देवो भव', और पति भक्ति मध्ययुग की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के बीच और भी दृढ हुई।

उत्तराधिकार की व्यवस्था भी पिता की इच्छा पर निर्भर करती है।

सामान्यतया उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त होता है। राजा दशरथ कैकेयी से कहते हैं कि उन्होंने बडे छोटे का ध्यान करके ही बडे पुत्र राम के युवराज्याभिषेक की घोषणा की थी, अन्यथा राम को राज्य का कोई लोभ नहीं है—

लोभ न रामहि राज कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड छोट विचारि जिय करत रहेहुँ नृपनीति॥

किन्तु यह तो 'नृपनीति' है। यदि पिता चाहे तो उत्तराधिकार का क्रम बदल सकता है। और बडे को पदच्युत कर छोटे को अधिकार दे सकता है। पिता की सहमति ही उसे वैध बना देती है। राजा दशरथ के निधन पर वशिष्ठ भरत से राज्य करने की बात कहते हुए व्यवस्था देते हैं कि जिसे पिता दे उसीका अधिकार वैध है, और वह वेदविहित भी है—'वेद विहित समत सब ही का, जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।' इसी प्रकार भरद्वाज ऋषि भी भरत से कहते हैं कि यदि वे राज्य करते तो भी उनको दोष न लगता—'करतेहु राजु त तुम्हहिं न दोषू', क्योंकि लोकमत और वेदमत यही है कि जिसे पिता राज दे उसीको मिले—

लोक वेद समत सब कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥

इस प्रकार उत्तराधिकार की जो व्यवस्था तुलसी ने चित्रित की है वह उनके युग तथा समाज की मान्य व्यवस्था है और बहुत कुछ इसी रूप म आज भी प्रचलित है।

सामाजिक शिष्टाचार और सामाजिक मर्यादा का जो स्वरूप तुलसी के युग मे मान्य था उसका तिरस्कार उनको सह्य नहीं है—'सापत ताडत पुरुष कहता' भी ब्राह्मण पूज्य है।

पिता की आज्ञा का पालन 'अनुचित उचित बिचारु तजि' होना चाहिए, गुरु की अवमानना दडनीय है, नहीं तो 'भ्रष्ट होइ स्रुति मारग मोरा', पति का अपमान किसी स्थिति म भी मार्जनीय नहीं है—

वृद्ध रोग बस जड धन हीना। अध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

इस प्रकार तुलसीदास अपने कथनो द्वारा स्पष्टतया परम्परा प्राप्त सामाजिक व्यवस्था के कट्टर समर्थक के रूप मे सामने आते हैं। उन्होंने कट्टरता का पक्ष लिया है और उनको तत्कालीन प्रचलित सामाजिक व्यवस्था, मान्यताओं एव मर्यादाओ का उल्लघन कदापि सह्य नही है। यद्यपि तुलसीदास यह अवश्य चाहते हैं कि प्रत्येक वर्ग अपने धर्म का पालन करे, और जब वह इसके विपरीत देखते है तो वह सभी वर्गों की कटु आलोचना करते हैं, फिर भी समाज के बीच वर्णों की उच्च एव नीच पद की जो व्यवस्था है वे उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही चाहते। समाज मे ब्राह्मण हर हालत मे उच्च पद का अधिकारी रहेगा और शूद्र का स्थान निम्न है। तुलसी के विचारो की वस्तुस्थिति यही है, इसे चाहे उनकी कट्टरता कही जाए या सामाजिक अनुशासनप्रियता। तुलसी के ये विचार मानस मे इतनी जगह और इतनी विभिन्न परिस्थितियो मे व्यक्त हुए हैं कि इन सब को बाद मे ब्राह्मणों द्वारा अपन को ऊचा उठाने के प्रयत्न-रूप जोडा हुआ या 'प्रक्षिप्त' कहने की कोई आवश्यकता नही है। समाज का ढाचा कई शताब्दियो से ज्यो का त्यो है। इसलिए कट्टरता की उक्तियो की भी अपनी परम्परा बन गई है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के समान 'मानस' का व्यक्तित्व भी अनेक रूपात्मक है, और यही विविधता उसकी लोकप्रियता का मूल कारण है। इस सबध मे किसी एक कारण को 'इदमित्थम्' रूप म उसी प्रकार नही प्रस्तुत किया जा सकता जिस प्रकार कि रज्जु के एक सूत्र को अलग कर उसे सर्वप्रधान नही कहा जा सकता। जिस प्रकार सूत्रो का समन्वित रूप उसकी शक्ति के सम्मिलित प्रभाव के रूप म प्रकट होता है उसी प्रकार मानस की लोकप्रियता उसके अनेक उपकरणो क समन्वित प्रभाव के रूप मे प्रकट हुई है। इसलिए केवल जनता क धार्मिक विश्वास, या राम के स्वरूप से कथा की सबद्धता अथवा गम्भीर दार्शनिक विचारो की विवेचना या नैतिकता या कलात्मक उत्कृष्टता मे से किसी एक को इस काव्य का लोकप्रियता का एकमात्र कारण नही माना जा सकता, यद्यपि ये अपने

में काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए लोकप्रियता के मूल में उपकरणों के सम्मिलित प्रभाव को ही मानना समीचीन होगा। मुझे यह कथ्य है कि सुन्दर कलात्मक रूप में अभिव्यक्त इसके नैतिक उद्गार भारत की कम शिक्षित और पूर्णतया अशिक्षित जनता के कंठ में जीवित हैं। गम्भीर दार्शनिक विचारों की सरल व्याख्या और उनकी उच्च (कोटि की) चित्रात्मकता ने मार्मिक भावातिरेक के मेल से इन विचारों के व्यापक प्रसार में सहायता दी।

इस प्रकार नैतिक पक्ष और काव्य (तथा कला) पक्ष का सुन्दर समन्वय और मणिकांचन-संयोग मानस के लोकव्यापी प्रसार का मुख्य कारण बन गया और उसने तुलसीदास को जनहृदय के सिंहासन पर अचल रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। ऐसा सुन्दर संयोग यदा-कदा ही होता है। तुलसी के व्यक्तित्व में कवि और भक्त प्रतिस्पर्धा के रूप में न आकर सहयोगी और पूरक रूप में आए। इसीसे मानस में काव्य का दुहरा लक्ष्य बराबर प्रस्तुत किया गया है। आदर्श की उच्चता और अभिव्यंजना की उत्कृष्टता, दोनों पर समान रूप से आग्रह दिखाया गया है। काव्य का प्रथम लक्ष्य 'सर्वहित' होना चाहिए—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई॥

तुलसीदास इतना कहकर संतुष्ट नहीं हो जाते, 'सब कर हित' से भक्त तो संतुष्ट हो जाता है, किन्तु कवि को केवल इतने से ही तृप्ति नहीं होती, क्योंकि नैतिक कथन मात्र उसका इष्ट नहीं है। भावपक्ष की उच्चता के साथ कलापक्ष का उत्कर्ष भी काव्य में उतना ही आवश्यक है। इसलिए नैतिक इष्ट के साथ कला की कसौटी भी प्रस्तुत की गई है। काव्य सरस हृदय संवेद्य है, इसलिए रसिक उसका पारखी भी कहा गया है। उसका निर्णय ही काव्य की कसौटी है। जिस रचना का आदर 'बुधजन' नहीं करते, उसमें कवियों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। इसलिए तुलसीदास मानस-रचना के समय यह वरदान मांगते हैं कि साधु समाज में उनकी 'भनिति' का सम्मान हो—

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कबि करहीं॥

कवि ने इस प्रकार नैतिकता और कलात्मकता की समन्वित दोहरी काव्य-कसौटी प्रस्तुत की जो तत्कालीन साहित्य-जगत की अत्यन्त विलक्षण एवं क्रान्तिकारी घटना है।

काव्य के इस आदर्श को प्रतिष्ठित कर कवि अपना यह विचार व्यक्त करता है (जो कि काव्य के आचार्यों के निष्कर्ष के अनुकूल ही है) कि काव्य प्रतिभा प्रयत्न-साध्य न होकर ईश्वर-प्रदत्त है। भक्ति के समान यह भी ईश-कृपा के अधीन है। जिसपर ईश्वर की कृपा होती है उसके हृदय में काव्य की अधिष्ठात्री वाणी उसी प्रकार नृत्य करती है जिस प्रकार कि सूत्रधार के इशारे पर कठपुतली नाचती है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

इस प्रकार काव्य प्रतिभा ईश्वर का वरदान है।

तुलसी ने काव्य की प्रक्रिया का भी संकेत दिया है जो यही प्रतिपादित करता है कि काव्य दैवी वरदान होने के साथ-साथ दैवी विभूति है। काव्य का जन्म हृदय, बुद्धि और दैवी प्रतिभा के संयोग से होता है। हृदय की अनुभूति या संवेदना—समन्वित बुद्धि को जब शारदा की कृपा से श्रेष्ठ विचार मिलते हैं तभी काव्य के मोती उपजते हैं अन्यथा नहीं—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरसइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुक्तामनि चारू॥

मानस रूपक के बीच कवि ने इसका स्पष्ट संकेत दिया है कि काव्य की मानसिक क्रिया किस प्रकार घटित होती है, काव्य का मानस किस प्रकार संपन्न होता है। यह मानस चर्म चक्षुओं से हृदयगम नहीं होता, इसके लिए ज्ञान की अन्तर्दृष्टि चाहिए। इसमें अवगाहन करने पर जब कवि की बुद्धि विमल हो जाती है, हृदय आनंद के उत्साह से भर जाता है, तब प्रेम प्रवाह के रूप में काव्य की सरिता इस मानस या मन से

उमड़कर चल पड़ती है—

अस मानस मानस चष चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही॥
भयउँ हृदय आनद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सो।

इस काव्य-सरिता का मूल, रामयश के जल से परिपूर्ण मानस है। यह जल बुद्धिमार्ग से होता हुआ मानस (या अन्तर) मे पहुचकर सुस्थिर हो जाता है, और फिर इसीसे काव्य सरिता निकलती है—

सुमति भूमिथल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधिघन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बरबारी।
मेघा महिगत सो जल पावन। सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना।

इस रूपक मे तलस्पर्शी बुद्धि और हृदय की 'अगाधता' या गहराई पर कवि की दृष्टि बराबर है। इस प्रकार कवि ने हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष, दोनो का समान रूप से काव्य की प्रक्रिया मे योग माना है। भावुकता और विवेचना दोनो का समन्वय उच्च काव्य की प्रतिष्ठा के मूल मे है। 'सुमतिभूमि' तथा 'मेधामहिगत' मे बुद्धि के आधारभूत स्वरूप का सकेत देकर उसका ठोस महत्त्व स्वीकार किया गया है, यद्यपि कवि यह स्पष्ट कर देता है कि यह बुद्धि हृदय से विमुख नही है। बुद्धि हृदय-सागर मे सीप के समान है। 'हृदयसिंधु' और 'हृदय अगाधू' भाव पक्ष या हृदय पक्ष की व्यापकता और गहराई को व्यजित कर रहे हैं।

इस प्रकार कवि के 'मानस' ने काव्य को जन्म दिया। यह शभु की कृपा से ही सभव हुआ। शिव की कृपा से जब सद्बुद्धि का आनदपूर्ण प्रकाश हुआ तभी तुलसी रामचरितमानस का कवि हुआ—

सभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥

इस प्रकार काव्य की दैवी विभूति ईश्वर का वरदान है।

ऐसी उच्च विभूति का निम्न उद्देश्यो की ओर नियोजन उसका दुरुपयोग है। उससे उच्च लक्ष्य की ही साधना की जानी चाहिए। तुलसी

की दृष्टि में सर्वोच्च लक्ष्य राम की भक्ति है। राम उच्चता, शुद्धता और पवित्रता के प्रतीक हैं, उनका नाम ही हमारे हृदय की उदात्त वृत्तियों को जगाने में समर्थ है। इसीसे नैतिक भावना से प्रेरित होकर (और राम-नाम के रसोद्रेक की क्षमता को पहचानकर) तुलसीदास इस सीमा तक चले जाते हैं और कहते हैं कि सुकवि का चमत्कारी काव्य यदि राम-नाम से विहीन है तो वह शोभाहीन ही है और राम-नाम से संयुक्त सामान्य काव्य भी सम्मान्य है—

भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥

तुलसी के इस कथन में केवल नैतिकता का ही आग्रह नहीं है, प्रत्युत काव्य की वस्तु-विषय की उच्चता या उदात्तता पर भी जोर दिया गया है। तुलसी की दृष्टि में कवि के लक्ष्य और काव्य के वस्तु-विषय दोनों ही को उदात्त होना चाहिए। तुलसी की दृष्टि में मानव का सर्वोच्च लक्ष्य भक्ति है। कवि के मतानुसार जब लक्ष्य उच्च होता है, अर्थात् जब वह भक्ति के 'भावन व्यापार' में प्रवृत्त होता है तो काव्य की अधिष्ठात्री शारदा ब्रह्मलोक से उसकी सहायता के लिए दौड़कर आती है। सरस्वती के श्रम का परिहार तभी होता है जब कवि उसे रामचरित के सरोवर में स्नान कराता है अर्थात् जब काव्य प्रतिभा उच्च लक्ष्य की साधना में प्रवृत्त होती है तभी काव्य की सच्ची सार्थकता है। उसके विपरीत जब कवि अपने इस उच्च उत्तरदायित्व को भूलकर अर्थ या यश-प्राप्ति के हेतु सामान्य नर-नारियों के प्रशंसात्मक वर्णन में अपनी काव्य-प्रतिभा को लगाते हैं तो वह उसका अपव्यय है और सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये ॥

कविकोविद अस हृदय विचारी । गावहिं हरि जस कलिमल हारी ॥
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥

तुलसी के उपर्युक्त उद्गार बड़े ही क्रान्तिकारी हैं । इन शब्दो मे सदाशयता पर तो आग्रह है ही, किन्तु उसके साथ कवि की स्वतन्त्रता का भी उद्घोष है । इन शब्दो मे उन कवियो की आलोचना भी है जो चंद टुकडो पर अपने को बेचने को तैयार हैं । कवि ने बड़े साहस के साथ उन कवियो की आलोचना की है जो उस युग मे 'प्राकृत जन गुन गान' मे प्रवृत्त थे। तुलसी का युग 'दरबारी' तथा 'राज्याश्रित' कवियो का था, उस युग के बीच तुलसी का यह कथन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अपने युग के साहित्य-जगत् की आलोचना कर तुलसी सब युगो के लिए कवियो को आत्मस्वातन्त्र्य (या चाटुकारिता से बचने) की चेतावनी दे गए।

तुलसी का 'स्वान्त सुखाय' का उद्घोष भी कवियो के आत्म-स्वातन्त्र्य की ही बात कह रहा है। इसमे स्वतन्त्रता के साथ हृदय की सत्यानुभूति या सचाई का सिद्धान्त भी प्रतिपादित है । 'स्वान्त सुखाय' से यही तात्पर्य है कि कवि अपने अन्तस् या मन के सुख के लिए गाता है या उसे गाना चाहिए, जिसमे उसे सुख मिलता है या जिसमे उसका मन रमता है उसीको अपने उद्गारो का विषय बनाना चाहिए, इस प्रकार यह कवि की अनुभूति की ईमानदारी या सचाई की बात ठहरती है। यह तो स्पष्ट ही है कि जिस वस्तु-विषय या भाव मे कवि का मन लीन नही होता उससे उसे सुख नही मिलता या उसकी तृप्ति नही होती, वह उच्च काव्य का आधार नही बन सकता। इस प्रकार उच्च काव्य की सृष्टि के हेतु ही स्वान्त सुखाय का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है अर्थात् उत्कृष्ट काव्य के लिए आवश्यक है कि कवि वस्तु-चयन के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रहे और वह काव्य-वस्तु कवि के मन के अनुरूप हो। दूसरे शब्दो मे, काव्य-रचना कवि के अपने अन्तस् (स्वान्त') से सबद्ध है, उसे फैशन या फरमाइश के रूप मे प्रस्तुत करना ठीक नही । कवि के पास केवल

एक ही शक्ति है और वह शक्ति शब्दार्थ की है। यही उसका बल है और यही उसकी सामग्री है और वह इसीसे बधा है। भावाभिव्यक्ति के व्यापार मे कवि को केवल शब्द और अर्थ का ही सहारा है। वह इनसे बाहर नही जा सकता और न किसी अन्य माध्यम का अवलब प्राप्त कर सकता है। कवि की मति को शब्दार्थ के घेरे मे बधकर उसका उसी प्रकार अनुसरण करना पडता है जिस प्रकार नट को ताल के अनुरूप ही नाचना पडता है और वह ताल से बाहर नहीं जा सकता, तुलसी के मतानुसार कवि को केवल शब्दार्थ का ही सच्चा बल है—'अरथ आखर-बल साचा' है।

तुलसी के सम्बन्ध मे स्वान्त सुखाय को पूर्णतया ऐकान्तिक कहकर समाज के इष्ट या श्रेयस् से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि तुलसी ने ऐसा नही किया है। तुलसी का 'स्व' सकुचित नही है। उसके सुख मे सबका सच्चा सुख निहित है। कवि इस प्रकार के जीवन या 'रहनि' की कई स्थलो पर कामना कर चुका है कि वह दूसरो के सुख से सुखी और दूसरो के दु ख म दु खी हो, अर्थात् उसके हृदय का जन हृदय से साधारणीकरण हो जाए। अपने को बन्धनो मे न बाधता हुआ भी कवि काव्य की प्रक्रिया तथा काव्य की आवश्यकताओ से अवगत है। 'स्वान्त सुखाय' या अपने अन्तस् के सुख की बात कहता हुआ भी वह 'अपने म ही मगन रहने वाला जीव नहीं है, क्योंकि वह कवि है और कवि होने के नाते वह जानता है कि काव्य की सार्थकता तभी है जबकि उसकी अपनी बात सबके हृदय की बात बन जाए, उसका काव्य जन-मन म उन्हीं भावो का प्रपक और उद्बोधक या उद्भावक बन जाए जो कि कवि के अन्तस् म है। कवि इस प्रकार काव्य का जो सामाजिक पक्ष है या उसकी जो सामाजिकता है उससे भलीभाति परिचित है। काव्य व्यक्ति की निजी कृति होते हुए भी अपने मे सम्पूर्ण नही है, उसे श्रोता, पाठक या दर्शक की अपेक्षा है। उसे श्रोता, पाठक या दर्शक के हृदय तक पहुचाना या हृदयगम कराना भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही

(कवि तथा) काव्य की पूर्ण सार्थकता है। सर्जन के क्षणो मे काव्य कवि की चीज है, सृष्टि हो जाने पर वह समाज की सम्पत्ति हो जाती है और कभी-कभी कवि के न चाहने पर भी कवि से अधिक समाज (श्रोता, पाठक या दर्शक) का उसपर अधिकार हो जाता है, और समाज काव्य के सम्बन्ध मे कतिपय मागे पेश करने लगता है। इनमे सर्वप्रथम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माग यह है कि कवि के हृदय मे जो भाव जगे है उनको कवि पारस्परिक विनिमय के सर्वोच्च सामाजिक साधन भाषा द्वारा सामाजिको के हृदय तक पहुचा सके। 'प्रेषणीयता' का सिद्धान्त इस प्रकार काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बन जाता है। प्रेषणीयता का यह सिद्धान्त ही काव्य का सामाजिक पक्ष है। तुलसी ने प्रेषणीयता के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को 'मनिमानिक मुकुता छवि' के द्वारा प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार मणि, माणिक्य और मोती यद्यपि सर्प के सिर, खान और हाथी के मस्तक मे जन्म लेते है फिर भी उनकी सार्थकता वहा नही है। उनकी शोभा तभी द्विगुणित होती है जब वे राजा के मुकुट या तरुणी के शरीर का आश्रय या आधार पाते हैं। इसी प्रकार काव्य का जन्म यद्यपि कवि के हृदय मे होता है (और वह अपने मे भी काफी महत्त्वपूर्ण है) फिर भी उसकी सार्थकता तभी है जब उसे उपयुक्त आश्रय प्राप्त हो (यह सभी जानते है कि काव्य का आश्रय स्वय कवि न होकर पाठक या सामाजिक या 'रसिक' है)। इसी से 'कवित्त' का जन्म तो एक जगह (कवि-हृदय मे) होता है, किन्तु शोभा दूसरी जगह (पाठक के हृदय मे) प्राप्त होती है—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसइ सुकबि-कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

इस प्रकार तुलसी ने काव्य के सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो एव उसके शास्त्रीय पक्ष का मानस मे पूर्ण प्रतिपादन किया। बालकाण्ड मे मानस के रूपक मे उन्होंने काव्य के अगो का भी उल्लेख किया है। इससे

जब तुलसी काव्य की गभीरता और अपनी निर्बलता का विज्ञापन करते हैं तो वह प्रकारान्तर से उनकी नम्रता का विज्ञापन बन जाता है, और वह उल्लेख यह भी बताता है कि काव्य के सभी पक्षो से तुलसी का परिचय है।

सक्षेप मे कवि ने काव्य के अन्तरग और बहिरग, उसकी आत्मा और उसके शरीर, उसके व्यक्तिपरक रूप और उसके सामाजिक पक्ष, दोनो का सम्यक् ध्यान रखा और दोनो मे सामजस्य प्रतिष्ठित किया। सूत्ररूप मे उन्होंने काव्य के सम्बन्ध मे 'सब कर हित' और 'बुधजन, आदर आदरहिं सुजान' की उच्च भाव तथा उत्कृष्ट कला की दोहरी कसौटी प्रस्तुत की। इसीसे तुलसी की ज्ञान-गरिमा प्रकट होती है और इसीमे उनकी सफलता का रहस्य भी है।

उनकी सफलता और लोकप्रियता का रहस्य एक अन्य तत्व म भी छिपा है। इसे हम कवि की व्यापक दृष्टि, सहानुभूति या उसकी मानवीयता कह सकते हैं। चित्रण मे कवि चाहे 'यथार्थवादी न हो, फिर भी वह यथार्थप्रेमी अवश्य है। इसी प्रकार उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि यद्यपि मानव हृदय के गहरे, विषम एव अन्धकारपूर्ण कक्ष का कोना-कोना झाककर उसका दृश्य हमारे सामने रख देती है, फिर भी वह मनुष्य की हसी नहीं उडाती, उसे सहानुभूति के साथ ऊपर उठाती है। ससार को माया या भ्रम समझता हुआ भी वह इस भ्रम का यथातथ्य चित्रण करता है और तब मनुष्य को इससे मुक्त होने का उपदेश देता है। इसीसे कवि ने ससार के कष्ट और कष्टो मे पडे हुए मनुष्य का सहानुभूति के साथ चित्रण किया है, और पारमार्थिक रूप म भ्रम होने पर भी उसकी पीडा को हल्की बताकर उससे विमुख नही हुआ। तुलसी ने वस्तुस्थिति को जो विषमता है, ससार मे जो कष्ट, पीडा और चुभन है, उसका पूरा-पूरा चित्र प्रस्तुत किया है। 'कवि की रचनाओ मे प्रकारान्तर से उसकी ऐहिक और आध्यात्मिक जीवन ही चित्रित हुआ है। तुलसी ने जीवन मे जिन कष्टों को झेला उन्हींको उसके कवि ने कलात्मक अभिव्यक्ति दी।

इसीसे तुलसी के इन चित्रो मे सत्य की शक्ति और स्वाभाविकता का रग है, यथार्थता का आग्रह और आदर्श या आध्यात्मिकता की सात्वना या सबोधन है। इसका एक प्रमाण दरिद्रता (के कष्टो) सम्बन्धी कवि का कथन है। कवि स्पष्ट कहता है कि इस ससार मे दरिद्रता से बढकर कोई दुख नही है—'नहि दरिद्र सम दुख जग माही'। चौदह प्राणियो का जीवन मृतक तुल्य है और दरिद्रो की गणना इन्हीमे है।

कौल काम बस कृपिन विमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
तनु पोषक निंदक अघखानी, जीवत सव सम चौदह प्रानी॥
तथा

आगि बडवागि ते बडी है आगि पेट की।

इसी सम्बन्ध मे कवि प्रकारान्तर मे यह भी कहता है कि अपने सुख के बिना मन कभी स्थिर नही होता—'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा' और सबसे बडे आनन्द की अभिव्यक्ति इस रूप में हुई कि मानो जन्म के दरिद्री को 'पारस' पत्थर मिल गया—'जनम रक जनु पारस पावा।

दरिद्रता के सम्बन्ध मे कवि की ऐसी प्रभावपूर्ण उक्तिया उसके जीवनानुभव से सम्बद्ध हैं। चूकि कवि दान-दाने के लिए बिलबिला चुका था, सबके आगे दात काढ चुका था, मान-मर्यादा की भावना को छोडकर सबों के आगे पेट खोल चुका था और किसीने उसके मुह मे धूल भी न डाली, किसीने 'सभाषन' भी न किया इसीसे तुलसीदास दरिद्रता को ससार का सबसे बडा कष्ट कहते हैं। इस कथन का महत्त्व इसलिए और भी बढ जाता है कि तुलसी जब महात्मा बन गए अर्थात् अपनी साधना द्वारा जब वे ससार के भ्रमपूर्ण रूप को समझ गए तब भी उन्होंने अपने इन कटु अनुभवो पर पर्दा नही डाला क्योकि वे जानते थे कि केवल वे ही जगे हैं और मनुष्यो की अधिक सख्या ससार के दुस्वप्न मे पडी कष्ट भोग रही है। जब तक ये मनुष्य न जगें तब तक मिथ्या होते हुए भी य कष्ट उनके लिए सच हैं। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार स्वप्न मे सिर कटने पर तब तक पीडा नही शान्त होती जब तक कि स्वप्न न टूटे, मनुष्य न

जगे। कवि ने ऐसे ही स्वप्न मे पड़े मनुष्यो का उन्हीकी दृष्टि से चित्रण किया है और उन्हीको सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक उपदेश दिए हैं जो जग गए हैं। उनके लिए न कोई व्यवस्था है और न बन्धन। कवि कदाचित् यह भी सोचता रहा हो कि मायामोह मे पडे मनुष्यों के दुःख-दर्द का विशद चित्रण शायद उनको जगा दे और उनको सच्चे मार्ग पर प्रवृत्त कर दे। इस प्रकार यथार्थ प्रेम, जीवन की विषमता और दुःख-दर्द के मर्मान्तक चित्र कवि के आदर्श तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के पोषक तथा पूरक बन गए और उनमे कोई विरोध न रहा, इस यथार्थ ने कवि के आदर्शो को और भी स्पृहणीय बना दिया, आदर्शवादी होते हुए भी कवि ने यथार्थ की अवहेलना न की।

यथार्थ प्रेम के समान ही सर्वांगीणता भी उसके काव्य की बहुत बड़ी विशेषता है। कवि को जीवन के ऊंच-नीच का बड़ा व्यापक और गहरा अनुभव था। उसने दुःख और सुख दोनो के दिन देखे थे। भिखमगों से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओ से भी उसकी घनिष्ठता थी, विद्वानो से लेकर अपढ़-मूर्ख तक से उसका पाला पड़ चुका था। अनेक यात्राओ के बीच वह अनेक प्रदेश और विविध स्वभाव के मनुष्यो से परिचित हो चुका था। इन सबका निचोड उसके काव्य मे प्रतिबिम्बित हुआ। फलतः इस कवि के यथार्थ चित्रो म लोगो को अपने ही जीवन की भाकी मिली, और चित्रो की सर्वांगीणता ने काव्य को और भी अधिक ग्राह्य बना दिया।

इस यथार्थ के साथ ही साथ कवि ने जिस आदर्श का चित्र उपस्थित किया उसम उसकी जनता के प्रति व्यापक सहानुभूति भी प्रस्फुटित हुई। वह जनता को कष्टो से छुटकारा पाने का मार्ग बताता है। उसके उद्गारो ने जनता के हृदय मे आशा का सचार किया। भक्ति के उपदेशो ने जनता को उच्च जीवन का आश्वासन दिया और जनता ने कवि को आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कवि उनका पथ-प्रदर्शक बन गया। तुलसी को

जनता का विश्वास प्राप्त हो गया ।

इस प्रकार यथार्थता, उच्चादर्श, सर्वांगीणता तथा मानवीयता ने (रसात्मकता से समन्वित होकर) तुलसीदास को धनी-निर्धन, ज्ञानी-अपढ़, ऊंच-नीच, सभी के हृदय में सदा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया । उनका आसन अटल है और उनकी लोकप्रियता अमर है ।

७

तुलसी की मौलिकता

तुलसी की मौलिकता पर विचार करने से पहले हमें उन ग्रन्थों से उनकी तुलना करनी होगी जिनका आभार तुलसी ने स्वीकार किया है या जो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से तुलसी को प्रभावित कर सके हैं। य ग्रन्थ हैं भागवत, वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक और भगवद्गीता।

भागवत और रामचरितमानस—मध्ययुग के वैष्णव धर्म के आन्दोलनों में श्रीमद्भागवत का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। शंकराचार्य, रामानुज, माध्व और निम्बार्क सभी वैष्णव आचार्यों का इस ग्रंथ से परिचय था, इसका प्रमाण हमारे पास है। इनमें से कुछ ने भागवत पर टीकाएं लिखी हैं और उसे प्रमाण ग्रंथों में स्थान दिया है। स्पष्ट है कि मध्ययुग में श्रीमद्भागवत की मान्यता इतनी अधिक थी कि कोई भी आचार्य उसे छोड़कर अपने मत का प्रतिपादन नहीं कर सकता था। इसीलिए प्रत्येक आचार्य को इसकी सम्यक् सैद्धांतिक व्याख्या करनी पड़ी। मध्ययुग के समस्त कृष्णभक्त सम्प्रदायों में भागवत के पठन-पाठन और कथा का प्रबन्ध था। वल्लभ-कुल-सम्प्रदाय में भागवत की कितनी मान्यता थी। यह इसी बात से प्रकट है कि इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े कवि सूरदास को अपनी मौलिक रचना को भागवत के ढांचे पर उपस्थित करना पड़ा।

भागवत की इसी मान्यता के कारण रामभक्त तुलसी को भी उसका सहारा लेना पड़ा। यही नहीं, सूक्ष्म अध्ययन से यह पता चलता है कि रामचरितमानस की रचना के समय श्रीमद्भागवत बराबर तुलसी के सामने रही है। तुलसी ने यह चेष्टा की है कि वे भागवत के कृष्ण के समान ही राम की स्थापना करें। वे ऐसा करने मे सफल भी हुए है। यह प्रसिद्ध है कि तुलसी काशी के वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिर मे कुछ दिन रहे थे और कदाचित् वहा रहते हुए ही उन्होंने कृष्णगीतावली की रचना की। इन सब बातो से स्पष्ट है कि तुलसी के लिए भागवत एक महत्त्वपूर्ण आधार ग्रन्थ रहा है यद्यपि उसका प्रभाव अधिकाश अपरोक्ष रूप मे ही ढूढा जा सकता है। आगे हम इसी प्रभाव को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

पहले हम श्रीरामचरितमानस के ढाचे की बात लेते है—

(१) भागवत मे ग्रन्थ के आरम्भ मे कल्पवृक्ष का रूपक है। तुलसी-दास ने अनेक स्थान पर रामकथा को कल्पतरु कहा है। उन्होंने भी मानस के आरम्भ मे रामचरितमानस के रूप म एक सुन्दर रूपक की प्रतिष्ठा की है।

(२) भागवत की भाति रामचरितमानस भी सम्वादकाव्य है।

(३) भागवत महाकाव्य नही है। रामचरितमानस भी महाकाव्य नही है। काव्याचार्यो न महाकाव्यो की एक विशिष्ट परिभाषा दी है। उसके अनुसार महाकाव्य की कथा को सर्गो म बटा होना चाहिए। महाकाव्यो और पुराणो म सब स महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि पुराणो मे कथा सम्वाद रूप म अविभाजित चलती है और प्रसगोत्तर उपकथाओ और अतकथाओ को भी स्थान मिलता है जिनका महाकाव्य मे कोई स्थान नही है। रामचरितमानस म कथा का एक अखण्ड स्रोत बहता है और यद्यपि वह काडो मे विभाजित है तथापि यह विभाजन बहुत दूर तक कृत्रिम है और सस्कृत रामायणो की परम्परा की रक्षा के लिए ही किया जान पडता है। तुलसी के मानस मे भागवत

की भांति अतर्कथाएं नही हैं परन्तु अनेक अतर्कथाओं का निर्देश अवश्य है जिससे स्पष्ट है कि तुलसी ने कथासौष्ठव की रक्षा के लिए उन्हे अपने काव्य मे स्थान नही दिया है यद्यपि उन्होंने अपनी कथा को पुराणो के ढग पर ही सोचा है।

पुराणो मे वर्षा और शरद् को ही स्थान मिला है, अन्य ऋतुओ के दर्शन नही होते। यह एक ऐसी परम्परा है जिसका कारण अज्ञात है। महाकाव्यो मे समस्त ऋतुओ, दिवस-रात्रि, सध्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, वन, पर्वत, नदी, सागर आदि के सविस्तार वर्णन अपेक्षित हैं, रामचरितमानस मे महाकाव्यो की प्रकृतिविषयक इन मान्यताओ का अनुसरण नही किया गया है। जहा प्रकृति के वर्णन हैं भी वहा वे सविस्तृत नही हैं और इनपर नैतिकता एव आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। वास्तव मे प्रकृति-वर्णन के नाम पर मानस मे यदि कुछ है तो पुराण-परिपाटी का वर्षा और शरद ऋतु-वर्णन ही है।

(४) वाल्मीकि रामायण मे रावण के जन्म, तपस्या, वरदान-प्राप्ति और ऋषि-मुनियो पर उसके अत्याचार की कथा लकाकाड मे रावण-वध के बाद दी है। रामचरितमानस मे यह सारी कथा रामजन्म की भूमिका के रूप म उपस्थित की गई है। इससे कथा विकास मे कलात्मकता का समावेश हो जाता है। पाठक जानना चाहता है कि राम-रावण युद्ध का क्या कारण है और उसकी जिज्ञासा को रावण-वध तक अटकाए रखना कला की दृष्टि मे एक दोष है। सम्भव है तुलसीदास ने भागवत की कसवध कथा से रामकथा को इस रूप मे उपस्थित करने का सूत्र ग्रहण किया हो।

(५) भागवत मे कृष्ण-कथा की समाप्ति पर वेदव्यास ने एकादश स्कध के अतर्गत आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयो पर गीता के रूप मे सम्वाद उपस्थित किए हैं। रामचरितमानस के उत्तरकाड मे रामकथा केवल कुछ पृष्ठो पर समाप्त हो जाती है और शेष पृष्ठो मे भागवत के एकादश स्कध की भाति ही आध्यात्मिक विवेचन चलता है। भागवत में

कृष्ण ने उद्धव से गीता कही है, रामचरितमानस के उत्तरकांड में भी इस प्रकार की एक गीता है जो राम ने पुरवासियों के प्रति कही है, रामचरितमानस के उत्तरकांड में काकभुशुण्डि और गरुडसंवाद का वही स्थान है जो भागवत में एकादश स्कंध का है।

(६) भागवत के द्वादश स्कंध में भागवत के विषयों की सूचनिका उपस्थित की गई है। लगभग सभी पुराणों में अन्त में इसी प्रकार की विशेष सूची मिलती है। और अनुकरण रूप में रामचरितमानस के उत्तरकांड में तुलसीदास ने भी काकभुशुण्डि के मुख से इसी प्रकार की सूची कहलाई है।

(७) भागवत की तरह तुलसीदास की रामकथा भी माहात्म्य के साथ समाप्त होती है।

ऊपर हमने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस का संगठन एक प्रकार का है और तुलसीदास इस विषय में अवश्य ही श्रीमद्भागवत के ऋणी हैं परन्तु अनेक प्रसंगों की तुलना करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसीदास की दृष्टि भागवत के दशम स्कंध पर ही अधिक रही है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की कथा है।

तुलसीदास ने किष्किंधाकांड के अंतर्गत वर्षा और शरद्-वर्णन को भागवत के आधार पर ही लिखा है। कहीं कहीं तो उन्होंने भागवत की सामग्री उसी प्रकार, बदले बिना, ग्रहण कर ली है।

अंतर केवल इतना है कि तुलसी ने भागवत की दार्शनिक उपमाएं नहीं ली हैं और प्रसंग को एकदम ज्ञानमंडित नहीं कर दिया। उनकी दृष्टि नैतिक तत्वों पर अधिक है। तुलसी ने भागवत के प्रकृति-वर्णन ढंग को इसलिए ग्रहण किया है कि यह ढंग उनके लिए अत्यन्त उपयोगी था और तुलसी की नैतिकता और मर्यादा की भावना भी इससे पुष्टि पा जाती थी। इस ढंग को तुलसी ने अन्य स्थानों पर भी यत्किंचित् ग्रहण किया है।

भागवत मे गोपियो की कृष्ण-वियोग की प्रलापपूर्ण उक्तिया ही रामचरितमानस के उस प्रसग मे प्रतिध्वनित होती हैं जहा सीताहरण के बाद राम विरहाकुल होकर लता तरुओं से इस प्रकार के प्रश्न पूछते हैं—

लछिमन समुझाए बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाँती ॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
खजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुन्दकली दाडिम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहु महा बिरही अति कामी ॥

तुलना से यह पता चल जाएगा कि तुलसीदास भागवत के गोपी-विरह से परिचित थे । यह तुलसीदास की मौलिकता है कि उन्होने मूल भावना भागवत से लेकर उसपर रीतिशास्त्र का रंग चढाकर एक नई सृष्टि की है । उन्होने नारी अगो के उपमानो को एक स्थान पर रख दिया है और इस प्रकार श्रीजानकी जी के सौंदर्य का उद्घाटन किया है ।

भागवत स्कध १२, अध्याय २ मे व्यास जी ने कलियुग का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है । मानस उत्तरकाड में भी इसी प्रकार कलियुग का वर्णन है ।

ऊपर भागवत के अनेक ऐसे उद्धरण उपस्थित किए हैं जिन सब से हमारे प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश पडता है । इनके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रसगो और स्थलो पर भी भागवत का प्रभाव लक्षित है । भागवत स्कध १२, अध्याय ३ मे नाम सकीर्तन का माहात्म्य है । रामचरितमानस की कथा के प्रारम्भ में तुलसी राम-नाम के माहात्म्य का सविस्तार वर्णन करते हैं ।

(बालकाड दो०१६-२७)। जैसा हम अन्यत्र कहचुके हैं उत्तरकाडका ढाचा भागवत के ग्यारहवें स्कध पर खडा किया गया है, परन्तु उसमें दार्शनिक विवेचन की अपेक्षा ज्ञान के ऊपर भक्ति की महत्ता ही अधिक स्थापित की गई है। रामचरितमानस मे सत असत, ज्ञान और भक्ति के द्वन्द्व और वर्णाश्रम धर्म को विस्तार मिला है। भागवत के ग्यारह-बारह स्कध मे यही सब विषय आते हैं परन्तु वहा उनका वर्णन विशद नही है।

भागवत और रामचरितमानस के दार्शनिक और आध्यात्मिक भावो मे भी साम्य है। यद्यपि आचार्यों ने श्रीमदभागवत पर अनेक धार्मिक वादो का आरोप किया है, हम यह जानते हैं कि उसके मूल मे अद्वैत का ही समर्थन होता है। वास्तव मे भागवत और रामचरितमानस का आध्यात्मिक सदेश एक ही है। इसे हम अद्वैत भक्ति कह सकते हैं। रामचरितमानस मे अद्वैतवाद का ही समर्थन मिलता है परन्तु यह अद्वैतवाद शकर के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से भिन्न है। यह भिन्नता इस कारण है कि तुलसी की दार्शनिक भूमि उनकी अध्यात्म भूमि से प्रभावित नही है। वे तर्कवादी नही। एक ही पक्ति म वे निर्गुण ब्रह्मवादी भी हो जाते हैं और साथ ही सगुण ब्रह्मवादी भी बने रहते हैं। वे उत्तरकाड मे कहते हैं—

जै सगुण निर्गुण रूप राम अनूप भूप शिरोमणे।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर तुलसीदास ने निर्गुण और सगुण म तादात्म्य स्थापित किया है और कहा है—

सगुनहिं अगुनहि नहि कछु भेदा। गावत मुनि पुरान बिधि बेदा॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

भागवत के श्रीकृष्ण और मानस के श्रीरामचन्द्र मे भी समानता है। भागवत के श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश मे से कोई भी इनकी कोटि तक नही पहुचते। यही परब्रह्म कृष्ण अवतार धारण करते हैं। इन परब्रह्म कृष्ण का स्वाभाविक रूप निर्गुण है। परन्तु वे अपने सगुण रूप मे गोलोक म निवास करते हैं। भक्तो के आनन्द के लिए यह

गोलोकवासी कृष्ण वृन्दावन मे अवतार लेते है। तुलसीदास ने अपने राम को भागवत के श्रीकृष्ण के समान ही प्रतिष्ठित किया है। उनके राम भी परब्रह्म हैं और सगुण रूप से साकेतवासी है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनकी वदना करते है। निर्गुण ब्रह्म (राम) भक्तो की रक्षा और पृथ्वी के भारहरण के लिए दाशरथि राम के रूप मे अवतार लेते हैं। तुलसी ने कही-कही राम को महाविष्णु भी कहा है, परन्तु इस ओर उनका आग्रह अधिक नही है। हो सकता है, ऐसा अध्यात्मरामायण मे प्रभाव के कारण हुआ हो जिसमे राम विष्णु के ही अवतार है परब्रह्म नही हैं।

अन्त मे, भागवत और रामचरितमानस की तुलना करने पर हम इस सिद्धान्त पर पहुचते हैं कि तुलसीदास ने भागवत का सहारा ही नही लिया है, उन्होने अपने सामने भागवत का ही आदर्श रखा है। उन्होने रामकथा को कृष्णकथा के ढाचे पर खडा किया है और राम का वही रूप गढा है जो रूप भागवत मे कृष्ण का है। इस सामान्य साम्य के अतिरिक्त तुलसी ने भागवत के अनेक प्रसगो, वर्णनो और काव्योपयोगी स्थलो से सहारा लिया है और कहीं कही तो उनका उल्था-मात्र कर दिया है। जहा-जहा तुलसी की मनोवृत्ति भागवत की वर्णनशैली से मिल गई है, वहा-वहा तुलसी ने वह वर्णनशैली अपना ली है। उदाहरणार्थ हम वर्षा और शरद् के वर्णन उपस्थित कर सकते हैं। तुलसी नीति को महत्त्व देते थे। वे समाज और व्यक्ति के जीवन को मर्यादा-भाव से पोषित देखना चाहते थे। भागवत के उपर्युक्त वर्णनो ने उन्हे इसीलिए आकृष्ट किया कि उनकी शैली मे वे प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ उच्च नैतिक तत्त्वो की स्थापना कर सकते थे। भागवत मे भी सत-असत और वर्णाश्रम सस्थापन जैसे विषयो पर लिखा गया है, परन्तु तुलसी को इस समय मे इन विषयो पर अधिक विस्तार से और अधिकारपूर्ण ढग से कहने की आवश्यकता थी। इसीलिए तुलसी ने इन प्रसगो पर विशेष यत्न दिया। यह भी सम्भावना है कि तुलसीदास ने भागवत के उद्धव के चरित्र को अपने सामने रखकर ही भरत के चरित्र का निर्माण किया है। सत्सग, नाम-

माहात्म्य, आत्मा-परमात्मा और भक्तियोग के प्रकरणों में भी तुलसी थोड़े-बहुत भागवत के ऋणी हैं।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस—वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों रामकथा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। रामकथा सम्बन्धी सबसे पहला ग्रन्थ कदाचित् वाल्मीकि रामायण ही है। यद्यपि कुछ विद्वानों का कहना है 'दशरथ जातक' इससे पहले की चीज है या इसकी समकालीन रचना है। जो हो, वाल्मीकि रामायण रामकथा का आदि ग्रंथ है और तुलसी ही क्या, सभी पुराण और रामायणें अपनी कथा के लिए इसी ग्रन्थ की ऋणी हैं।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में सबसे महान् अन्तर दृष्टिकोण का है। वाल्मीकि चरितमान्य लिख रहे हैं। पहले ही श्लोक में वाल्मीकि नारद से पूछते हैं, "इस समय संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढव्रत, बहुत प्रकार के चरित्र करने वाला, प्राणीमात्र का हित करनेवाला, विद्वान्, शक्तिमान्, अति दर्शनीय, आत्मज्ञानी, क्रोध जीतनेवाला, तेजस्वी, निन्दारहित, जिसके संग्राम में क्रोध उत्पन्न होने पर देवता भी भयभीत हों, ऐसा कौन है? हे महर्षि! यह जानने की मुझे उत्कट इच्छा है और आप ऐसे मनुष्यों के जानने में समर्थ भी हैं।" नारद जी उत्तर में अयोध्या के राजा रामचन्द्र का नाम लेते हैं और उनके गुण बतलाते हैं। इन श्रेष्ठ चरित्रवान् पुरुष श्रीरामचन्द्र में विष्णु के अवतार का भी आरोपण किया गया है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अवसर पर ब्रह्मा सहित देवता विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि वे रावण आदि राक्षसों के नाश के लिए मनुष्य रूप में अवतार लें और विष्णु राजा दशरथ को अपना पिता बनाना स्वीकार करते हैं। विद्वानों का कहना है कि राम में विष्णुत्व का आरोप वैष्णव धर्म के प्रथम पुनरुत्थान के समय हुआ और वे अंश प्रक्षिप्त हैं, जिनमें राम को विष्णु या विष्णु का अवतार कहा गया है। यदि हम इन अंशों को प्रक्षिप्त स्वीकार न करें तो हम यह कह सकते हैं कि वाल्मीकि विष्णु के अवतार राम को श्रेष्ठ

चरित्रवान् पुरुष के रूप मे सामने रख रहे हैं।

तुलसीदास राम को श्रेष्ठ और आदर्शचरित्र के रूप मे उपस्थित नही कर रहे हैं। उनके राम तो स्वय भगवान् हैं जो मानवीय दुर्बलताओ से ऊपर हैं। वे अपनी लीला द्वारा ससार के सामने सासारिक व्यवहारो मे मर्यादा और श्रेष्ठतम गुणो की स्थापना भले ही करते हो, तुलसीदास की रामकथा रामभक्ति की स्थापना के लिए लिखी गई है। यही एक लक्ष्य तुलसी के आगे है। वे कहते हैं—

रामकथा जग मंगल करनी।
रामभगति-भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥

तुलसी का सारा ग्रन्थ इसी रामभक्ति पूर्ण दृष्टिकोण से प्रभावित है। *तुलसी के राम विष्णु के अवतार नही, परब्रह्म हैं।* वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के ऊपर हैं (विधि हरि शम्भु नचावन हारे)। वे यहाँ भक्तो और साधुओ के परित्राण के लिए और दुष्टो के विनाश के लिए अवतार लेते हैं या भक्तो के आनन्द के लिए अथवा भक्तो की बात पूरी करने के लिए।

वाल्मीकि और तुलसी के चरित्र चित्रण म महान् भेद है। इस भेद के तीन कारण हैं—१ जहा वाल्मीकि एक श्रेष्ठ चरित्रवान् का चरित्र लिख रहे हैं, वहा तुलसी मर्यादा पुरुषोत्तम राम की लीला लिख रहे हैं। २. वाल्मीकि के चरित्र आदर्श और महान् होते हुए भी देवता नहीं हैं यद्यपि कुछ पक्तियो मे उन्होने उनपर देवत्व का आरोपण अवश्य किया है। उनमे मनुष्य की दुर्बलताए भी हैं। वे मानव हैं। ३ तुलसी के लगभग सभी पात्र रामभक्त है। वास्तव मे उनके दो व्यक्तित्व हैं—एक भक्त का, एक साधारण। *वाल्मीकि के पात्र इस प्रकार रामभक्त नही हैं जिस प्रकार* तुलसी के पात्र हैं। पात्रो म रामभक्ति की स्थापना उनकी मौलिक कल्पना है। पात्रों के भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व ने उनके स्वाभाविक चित्रण मे बाधा डाली है। इसी भक्ति के दृष्टिकोण के कारण विभीषण और मदोदरी का चरित्र-चित्रण कुछ इस प्रकार हो गया है कि तुलसी के उद्देश्य से अपरि-

कित आलोचक इन स्थलो को दोषपूर्ण समझना है। तुलसी ने रामकथा मे भी कुछ इस प्रकार के परिवर्तन उपस्थित कर दिए है कि चरित्र-चित्रण वाल्मीकि से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए, उन्होने पात्रो को सयमित और मर्यादित करने की विशेष चेष्टा की है। रामायण का प्रत्येक पात्र-परिस्थिति विशेष मे पहुचकर आत्महत्या करना चाहता है। कौशल्या राम से हठ करती है कि मुझे वन ले चलो नही तो मैं आत्महत्या कर लूगी। सीता और लक्ष्मण भी इस प्रकार की बात कहते हैं। आवेश मे आकर वाल्मीकि के पात्र मर्यादा का ध्यान छोड देते हैं। राम अपनी माता को पातिव्रत्य का उपदेश देने लगते हैं। यह अनुचित है। तुलसी मे हमे ऐसे प्रसग नहीं मिलेंगे। वाल्मीकि मे लक्ष्मण दशरथ को बाधकर बल-पूर्वक राज्यप्राप्ति की बात रामचन्द्र को सुझाते है। स्पष्ट है कि तुलसी इस प्रकार की बात स्वीकार नही कर सकते। इस प्रकार के परिवर्तनो ने तुलसी के चरित्रो को अधिक प्रिय बना दिया है और उनकी उग्रता दूर की है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अपने चरित्रो के उन लाछनो को धोने की चेष्टा की है जो वाल्मीकि के पाठक उनपर लगाते हैं यद्यपि वे सब कही सफल नहीं हुए हैं। वाल्मीकि के दशरथ स्पष्टत लाछित हैं, वे भरत के साथ अत्याचार करते हैं जैसे अनेक स्थानो से सिद्ध हो सकता है। दशरथ राम से कहते हैं—

"जब तक भरत इस नगर से बाहर है तभी तक तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाना मैं उचित समझता हू।"

और जब भरत कैकेय देश से लौटकर अयोध्या म प्रवेश करते हैं तो वे अपने मन की बात इस प्रकार कहते हैं—

'मैं तो यह सोचकर चला था कि या तो राजा श्रीराम का अभिषेक करेंगे या कोई यज्ञ करेंगे।"

इन दोनो अवतरणो से महाराज दशरथ की दुर्बलता प्रकट हो जाती है और उनके मानसिक सघर्ष का पता चलता है। तुलसी ने दशरथ और भरत के चरित्रो की यह दुर्बलता दूर कर दी है और उन्हें आदर्श पिता

और भ्राता बनाने की चेष्टा की है। वाल्मीकि के गुह और भरद्वाज भरत पर सन्देह करते हैं, परन्तु तुलसी तो भरत पर सन्देह करना जानते ही नहीं। उनके भरद्वाज तो भरत को देखकर प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। वाल्मीकि के राम वनवास से लौटकर भरत के साथ राज करने की बात स्वीकार करते हैं और लौटने पर उनसे ही राज करने को कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में एक राजनैतिक चक्र चल रहा है जिसका थोडा भी आभास तुलसी मे नही है। नीचे हम वाल्मीकि और तुलसी के पात्रो की तुलना करते हैं—

राम—जैसा हम कह चुके हैं वाल्मीकि के राम श्रेष्ठ चरित्रवान् पुरुष हैं। वाल्मीकि उन्हे सर्वगुणसम्पन्न, मन को वश मे करने वाला, बली, धैर्यवान, ऐश्वर्ययुक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, मृदुभाषी और धीरनायक के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। रामचन्द्र जी का चरित्र बहुत कुछ इसी आदर्श के अनुरूप है। वाल्मीकि रामायण के राम के चरित्र का अध्ययन करने के लिए *अयोध्याकाड और लकाकाड विशेष उपादेय हैं। अयोध्या-काड मे राम केवल एक स्थान को छोडकर जहा वे आत्महत्या के लिए* तैयार होते हैं सब प्रकार से आदर्श है। वे उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ और धीर-गम्भीर पुरुष हैं। अरण्यकाड मे हमे उनकी गम्भीर विरह-वेदना के दर्शन होते हैं। तुलसी मे विरही राम का चरित्र अधिक सयत है। तुलसी ने अरण्य, किष्किधा और सुन्दरकाडो मे उन्हें भक्त-वत्सल दिखाने की विशेष प्रकार से चेष्टा की है। अनेक ऋषियो से भेंट होने के प्रसग मे भगवान् के चरित्र की यह विशेषता स्पष्ट है। वाल्मीकि मे इस ओर विशेष प्रयत्न नही किया गया है क्योकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा था। तुलसी ने इन प्रसगो को अध्यात्म के आधार पर खडा किया है। जहा राम उसी प्रकार भक्तवत्सल परब्रह्म हैं, वही पर वाल्मीकि के देवत्व से रहित श्रेष्ठ मानव राम का चरित्र अत्यन्त ही आकर्षक बन पडा है।

लक्ष्मण—दोनो के लक्ष्मण मे विशेष भेद नहीं है। वास्तव मे तुलसी ने वाल्मीकि और अध्यात्म दोनो के लक्ष्मणो को स्वीकार कर एक कर दिया है। वाल्मीकि के लक्ष्मण अत्यन्त तेजस्वी, उग्र स्वभाव वाले,

अतुलनीय धीर योद्धा और जागरूक भ्रातृ-सेवक हैं। तुलसी कुछ उग्र प्रसगो को हटा देते हैं, जैसे अयोध्याकाड मे वनवास का समाचार सुनकर उनका क्रोध—'हे पुरुष-श्रेष्ठ, मैं इस सारी अयोध्या को तेज तीरो से बिना मनुष्यों के कर दूगा, यदि कोई तेरे विरुद्ध खडा होगा। भरत के पक्ष का अथवा जो कोई उसका हित चाहता है, उन सबको मार डालूगा"। इसी तरह वे अयोध्या लौटते सुमन्त्र से राजा दशरथ के लिए कठोर शब्द कहते हैं, तुलसी के राम उन्हे दबा देते हैं। यहा लक्ष्मण का कथन मर्यादा और नीति के विरुद्ध होता है। परन्तु शेष स्थलो पर उग्रता बनी है। मानस के लक्ष्मण का दूसरा रूप जिज्ञासु का है—यह रूप अध्यात्म-रामायण से आया है जहा लक्ष्मण पचवटी मे राम से भक्ति और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा चलाते हैं। अध्यात्म मे लक्ष्मण राम के ब्रह्मरूप से परिचित हैं और स्वय भी गुह को उपदेश देते है। मानस म भी वे गुह को उपदेश देते हैं।

भरत—तुलसी ने भरत के चरित्र को उद्धव के आधार पर स्वत रचा है। उनकी उग्रता कम की है और राम विषयक भ्रातृभक्ति के ऊपर रामभक्ति के स्वर बराबर बजते हैं। तुलसी ने भरत के चरित्र को कई प्रकार प्रिय बनाया है। वाल्मीकि म भरत भाई राम के चरित्र पर सदेह करते हैं, यह तुलसी म नही। वे कौशल्या के आगे शपथ खाते हैं और कौशल्या उनपर सदेह सा करती हैं। तुलसीदास ने भरत और कौशल्या दोनो का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल बनाया है। वहा सशय को स्थान ही कहा है? वाल्मीकि म भरद्वाज, गुह और लक्ष्मण सब भरत के प्रति शकालु हैं। तुलसी म व इतने शकालु नहीं। तुलसी के भरत का चरित्र और व्यक्तित्व सभी शकाओ के ऊपर है। वे अत्यन्त उज्ज्वल तन्तुओ के बने है। वनपथ और चित्रकूट मे उनके चरित्रो को अत्यन्त अधिक विशद रूप से तुलसी ने रखा है। तुलसी ने भरत को रामभक्ति का आदर्श माना है।

वाल्मीकि रामायण म दशरथ स्पष्टत कामी है परन्तु इस बात को

केवल दबे शब्दों मे कहते हैं। शेष चरित्र-चित्रण एक जैसा है परन्तु *जहा वाल्मीकि के दशरथ कहते हैं—"मुझे बाध लो" वहा तुलसी के* दशरथ अधर्म की बात भी नही सोचते, वे तो "प्राण जायँ बरु बचन न जाई" सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति है, वाल्मीकि मे दशरथ और कैकेयी के मन मे राजनैतिक संघर्ष (कूटनीति) अवश्य है। दशरथ राम के साथ सेना आदि भेजना चाहते हैं। इससे कैकेयी निराश हो जाती है। फिर वशिष्ठ *सीता के साथ के बहाने सेना को साथ कर देते हैं परन्तु राम स्वीकार* नही करते। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि की प्रजा राजा को सामने ही धिक्कारती है—राजा उससे प्रभावित भी होते हैं।

सच तो यह है कि वनवास प्रसग चाहे तुलसी ने कितना ही मनोवैज्ञानिक बना दिया हो, परन्तु उन्होंने उसे कूटनीति पर खडा नही *किया। उन्होंने केवल राजा के व्यथित मन के मनोविज्ञान की तस्वीर* उतारी है, राजनीतिक सघर्ष (या षड्यत्र) का आभास भी नही दिया है। वाल्मीकि का यह प्रसग अत्यन्त स्वाभाविक, बलवान् और स्पष्ट है यद्यपि उसमे काव्यसुख इतने नहीं जितने तुलसी मे। तुलसी के दशरथ ब्रह्म राम के शोक मे मरते हैं, वाल्मीकि मे पुत्र राम के शोक मे, वस्तुत आत्मग्लानि से। तुलसी मे वनवास-प्रसग को इतना विस्तार नही दिया गया है, विशेषकर दशरथ के मनोवैज्ञानिक सघर्ष को। न उन्होंने सौतिया डाह के यथार्थवादी चित्र ही उपस्थित किये हैं। यहा लक्ष्य ही दूसरा है, प्रेरणा ही दूसरी है। यहा 'गई गिरा मति फेर' ही है। इसीसे तुलसी का अयोध्याकाड पूर्वार्द्ध मनोवैज्ञानिक होता हुआ भी वाल्मीकि से निर्बल है।

कौशल्या—कौशल्या को कैकेयी का पहले ही डर था, यह 'सौतिया डाह' या 'सौत का चक्र' कथा के पीछे सीधा ही उभर आता है। *कौशल्या राम को नहीं जाने के लिए भी कहती हैं, पिता के विरुद्ध भी* भडकाती हैं, आत्महत्या की धमकी भी देती हैं, राजा को भी डाटती है—परन्तु मानस की कौशल्या तो मर्यादापुरुषोत्तम राम की मा हैं। उनसे

इस उच्छृंखलता की आशा क्यों ? यह सहज बुद्धि से राम ही जैसा भरत को मानती हैं, उनपर वाल्मीकि की कौशल्या की तरह सन्देह नहीं करती।

सुमित्रा—सुमित्रा वनवास की बात सुनती है तो उसके पहले उद्‌गार से सौतों की परिस्थिति समझ में आ जाती है। शेष चित्रण एक जैसा है। जहां वाल्मीकि में सुमित्रा पुत्र को भाई के प्रति कर्तव्य की शिक्षा देती है, वहां तुलसी में वह राम का वास्तविक स्वरूप जानकर लक्ष्मण को रामभक्ति का उपदेश देती है।

कैकेयी—तुलसी ने कैकेयी के चित्र को रामभक्ति के कारण दुर्बल बना दिया है। सौतिया डाह और पुत्रप्रेम की प्रबलता—ये दो मुख्य सूत्र थे जिनसे वह परिचालित थी परन्तु तुलसी ने देव का आरोप कर उसके चरित्र को भिन्न धरातल दे दिया है। जो हो, उनका कैकेई का चित्रण सहृदयपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

गुह—गुह राम का मित्र और सेवक है, परन्तु तुलसी ने उसे भरत की भांति उत्कृष्ट श्रेणी का रामभक्त बना दिया है। यद्यपि कथा में विशेष अन्तर नहीं रखा गया है।

हनुमान्, सुग्रीव, बालि—इनके चित्रण में हम वीरत्व की प्रधानता देखते हैं। हनुमान् सेना-सचालक, चमत्कारी योद्धा आदि के रूप में भी आते हैं। तुलसी ने इन पात्रों में रामभक्ति का समावेश कर दिया है। हनुमान् तो दास्यभक्ति में उनके आदर्श ठहरे।

कुम्भकरण—ये वाल्मीकि में नीतिकुशल, धर्मज्ञ योद्धा हैं। तुलसी ने अध्यात्म के आधार पर रामत्व से परिचित भक्त बना दिया है।

विभीषण—तुलसी ने हनुमान् से लंका में इनकी भेंट कराई है। यह नितान्त नई योजना है जो अध्यात्म में भी नहीं है। वहां विभीषण पहले ही रामोपासक के रूप में मिलते हैं। घर पर रामनाम लिखे रहते हैं और तुलसी का पेड़ लगाए रखते हैं। इससे उनका चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल हो गया है और उनका भ्रातृद्रोह भक्ति के आगे दब जाता है।

वाल्मीकि मे विभीषण भ्रातृद्रोही, राज्यलम्पट और कुलघाती ही है। भीरु तो है ही।

रावण—सारे युद्धकांड मे राम और रावण का व्यक्तित्व ही व्याप्त है और वाल्मीकि ने वीरकाव्य की दृष्टि से ही उनका चरित्र-गठन किया है। रावण राम का योग्य प्रतिद्वन्द्वी नायक है, परन्तु तुलसी मे स्पष्टतः रामत्व से अभिज्ञ, हठी, राम को मनुष्य समझने वाला (जिसके लिए तुलसी उसे बार-बार धिक्कारते हैं) योद्धा है। रामायण मे वह अदम्य-उत्साही, कूटनीतिज्ञ और नीति-निपुण है। तुलसी के मानस के सारे पात्र राम के ब्रह्मत्व से परिचित और उनके भक्त हैं, एक रावण ही उनके तत्त्व से अपरिचित है—यही नही, वह स्पष्ट रूप से ही उनका विरोध करता है। अध्यात्म रामायण मे रावण भी प्रच्छन्न भक्त है, राम के ब्रह्म-तत्त्व से अपरिचित है।

वाल्मीकि और तुलसी के प्रकृति-वर्णनो की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से वाल्मीकि तुलसी से कही उत्कृष्ट है। दोनो मे प्रकृति-वर्णन के महत्त्वपूर्ण स्थल पम्पा सरोवर का वर्णन और शरद्-वर्षा-वर्णन है। वाल्मीकि मे पम्पासरोवर का वर्णन संश्लिष्ट है यद्यपि उसमे उद्दीपन भाव की स्थापना भी की गई है। राम लक्ष्मण से कह रहे है—"यह पम्पा देखने मे अति सुन्दर मालूम होती है इसकी नीली और पीली घास मुझे अत्यन्त सुन्दर मालूम पडती है, मालूम होता है कि अनेक प्रकार के वृक्षो के नाना पुष्पो की राशि एकत्र की गई है। इन वृक्ष-शिखाओं के अग्रभाग फूलो से लद गए है, पुष्पित अनेक लताए उनके चारो ओर लिपटी हुई हैं। लक्ष्मण, यह सुखकर हवा चल रही है, यह कामोद्दीपक समय है, सुगधयुक्त चैत्र मास है, वृक्षो मे फल फूल लग गए हैं। लक्ष्मण, फूले हुए इस वन का सुन्दर रूप देखो। मेघ के समान ये पुष्पो की वर्षा कर रहे हैं। वन के ये अनेक वृक्ष हवा से कंपित होकर समतल पत्थरो पर पुष्प-वृष्टि करके पृथ्वी को ढक रहे हैं। लक्ष्मण, देखो, वृक्षो से जो फूल गिर गए है, जो गिरने वाले हैं अथवा जो अभी

वृक्षो मे लगे हुए हैं, उनसे हवा खेल रही है। फूलो से लदी हुई वृक्षो की शाखाओं को कपाकर जब हवा वहा से चलती है, तब भ्रमर उसके पीछे गाता हुआ चलता है। मस्त कोकिलो के शब्द से वृक्षो को मानो नाचने की शिक्षा देती हुई, पर्वत की गुफा से निकली वायु गाती हुई मालूम पडती है। वायु चारो ओर से वृक्षो को कपा रही है, पर इन वृक्षो की शाखाओ के अग्र भाग इस तरह मिले हुए हैं मानो जुट गए हो, गुथे हुए हो। चदन से शीतल इस दक्षिणी वायु का स्पर्श बडा ही सुखकर जान पडता है, पवित्र गध लाकर यह हवा थकावट दूर करती है। मधुर गन्ध वाले इस वन मे भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं मानो हवा से कपित वृक्ष गा रहे हो और भ्रमर उनका अनुसरण कर रहे हो। रम्य पर्वत-शिखरो पर उत्पन्न फूल वाले मनोहर वृक्षो के कारण पर्वत ऐसे मालूम पडते हैं, मानो उनके शिखर आपस मे जुटे हो · लक्ष्मण, इस वन मे अनेक पक्षी बोलते है और यह वसन्त सीता के विरह-काल मे मेरा शोक और बढा रहा है। शोक से पीडित मुझको कामदेव सता रहा है और यह कोकिल तो मुझे प्रसन्नतापूर्वक ललकार रही है, अपनी विजय की घोषणा कर रही है। इस वनेले सोते के सामने जल-कुक्कुट प्रसन्न होकर बोल रहा है और कामयुक्त मुझको दुखी बना रहा है। इसका शब्द सुनकर मेरे साथ रहने वाली मेरी प्रिय सीता प्रसन्न होकर मुझे बुलाती थी और बहुत प्रसन्न होती थी।" तुलसी का पपा-सरोवर-वर्णन इस ढग का नही है, वह बहुत कुछ भागवत के वर्षा शरद ऋतु-वर्णन के आधार पर लिखा गया है। वास्तव मे तुलसी के लिए प्रकृति-वर्णन अप्रधान है, नैतिक और धार्मिक तत्त्वो की स्थापना प्रधान है।

वाल्मीकि और तुलसी के वर्षा-शरद्-वर्णन के अन्तर का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। तुलसी के वर्षा शरद् का आधार वाल्मीकि नही, भागवत है। उन्होंने भागवत का आधार लेकर प्रकृति के विकार द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक मर्यादा और शील की स्थापना की है। तुलसी ने भागवत की तरह दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही किया है और जहा-जहा भागवत के भौतिक उपकरण को लिया गया है, वहा-वहा भी

थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है। उनकी प्रकृति धर्मशीला है। वह धर्म के सरक्षण मे सदैव तत्पर है। वाल्मीकि के प्रकृति-चित्रण मे कोई धर्मभावना नही है और न वे नैतिक तत्त्वो की स्थापना करते हैं। उनके काव्य मे प्रकृति का प्रयोग केवल दो प्रकार से हुआ है—१ साधारण सश्लिष्टात्मक वर्णन के रूप मे और २ उद्दीपन के रूप मे। तुलसी मे पहले प्रकार के वर्णन का तो अभाव है, दूसरे प्रकार के वर्णन भी केवल सीता वियोग के समय हैं जहा राम वृक्षो आदि को सम्बोधन करते हैं जो वाल्मीकि के इसी प्रसग से प्रभावित हैं। जैसा हम कह चुके हैं, तुलसी का प्रकृति-वर्णन मूलत नैतिक और धार्मिक तत्त्वो से प्रभावित है, परन्तु कुछ स्थानो पर उन्होंने हिन्दी कवि परम्परा का भी आश्रय लिया है।

वाल्मीकि रामायण की अधिकाश कथा वर्णनात्मक है और उसमे काव्य के गुणो का अभाव है। वाल्मीकि के नायक राम मुख्यत धीर-नायक और योद्धा हैं और कथा का अधिकाश भाग युद्ध-वर्णनो से भरा पडा है। वाल्मीकि रामायण वीर रस प्रधान काव्य है और इसीलिए युद्धकाड सबसे विस्तृत है। वाल्मीकि के इसी दृष्टिकोण के कारण वीररस का परिपाक अधिक हुआ है। अकेले युद्धकाड में ही अनेक वीररसपूर्ण प्रसग आए हैं, परन्तु उनमे विभिन्नता बहुत कम है। अन्य रसो का परिपाक वाल्मीकि मे नही हो पाया है। वाल्मीकि और तुलसी के अयोध्याकाडो की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि वाल्मीकि की वर्णनात्मक शैली मे रस परिपाक का अधिक स्थान नही है। वाल्मीकि मे वीभत्स और भयानक रसो के विशेष प्रसग नही हैं परन्तु तुलसी मे उन्हे स्थान मिला है। वीर रस प्रधान काव्य होने के कारण वाल्मीकि मे रौद्ररस के अनेक स्थल हैं। शात और भक्तिरसो का तो यहा एकदम अभाव है। तुलसी की समस्त रामकथा मे भक्ति किसी न किसी रूप मे व्याप्त है। सक्षेप मे वाल्मीकि वर्णन करके ही रह जाते है, कवितावली को पुट नहीं देते।

अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस—तुलसी ने रामचरित

मानस की कथा का ढांचा मुख्यत अध्यात्मरामायण को ही माना है, विशेषत अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर और उत्तरकाडो की सामग्री बहुत कुछ इसीपर आधारित है।

अध्यात्मरामायण और मानस लगभग एक ही प्रश्न से शुरू होते हैं। अध्यात्मरामायण मे पार्वती पूछती है—"कोई-कोई कहते हैं कि राम परब्रह्म होने पर भी अपनी माया से आवृत हो जाने के कारण अपने आत्मस्वरूप को नही जानते थे। इसलिए अन्य (वशिष्ठादि) के उपदेश से उन्होंने आत्मतत्त्व जाना।" (१।१३) "यदि वे आत्मतत्त्व को जानते थे तो उन परमात्मा ने सीता के लिए इतना विलाप क्यो किया ?" (१।१४) दोनो ग्रन्थों म राम-सीतातत्त्व मे समानता है। सीता हनुमान् से कहती है—"वत्स हनुमान्, तुम राम को साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्द घन परब्रह्म समझो। ये नि सन्देह समस्त उपाधियो से रहित, सत्ता मात्र, मन तथा इन्द्रियो से अविषय, आनन्दघन, निर्मल, शात, निर्विकार, निरजन, सर्वव्यापक, स्वयप्रकाश और पापहीन परमात्मा ही हैं। और मुझे ससार की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति जानो। मैं ही निरालस्य होकर इनकी सन्निधिमात्र से इस विश्व की रचना किया करती हू।" मानस मे राम को जगदीश और सीता को माया कहा गया है।

रामचरितमानस की समस्त कथा अध्यात्मरामायण की कथा को सामने रखकर लिखी गई है और विस्तार एव भक्ति विषयक विशेष परिवर्तन के सिवा दोनो म अतर नही है। वास्तव मे अध्यात्म की कथा मे वाल्मीकि की कथा ही, थोडे परिवर्तनो के साथ, सक्षेप म उपस्थित की गई है। वह वाल्मीकि रामायण की ही कथा है। परन्तु उसका आधार अध्यात्मज्ञान है या रामसीतातत्त्व मीमासा। तुलसी इस मीमासा से कुछ हद तक सहमत हैं। राम-सीता के ब्रह्म प्रकृति होने के विषय मे उनके वही सिद्धान्त हैं। भक्ति के सम्बन्ध म भी वे लगभग वही कहते है। परन्तु जीव, ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध मे वे कुछ भिन्न विचार रखते हैं। अध्यात्म वेदान्त (अद्वैत) ग्रन्थ है। तुलसी ने जीव को 'अश' कहा

है। वे 'भेदभगति' के कायल हैं। वे इस विषय में विशिष्टाद्वैती जान पड़ते हैं। अभेदभक्ति और तत्त्वज्ञान का अर्थ है—मोक्ष (सायुज्य) अथवा सारूप्य, परन्तु तुलसी सान्निध्य और सालोक्य ही पसंद करते हैं।

अध्यात्मरामायण में कथा का विकास इतनी क्षिप्र गति से हुआ है कि किसी प्रकार के काव्यगुण को प्रकट होने का समय नहीं मिला है। रस, अलंकार, संवाद, वर्णन—सभी की दृष्टि से अध्यात्म बहुत कुछ शून्य है। रचयिता का ध्येय परमात्मतत्त्व का निरूपण है। कहीं-कहीं भक्ति की भी सुन्दर व्याख्या है, परन्तु इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में भावुकता और सहृदयता को स्थान नहीं मिला है, यहां तक कि राम और सीता के दो-चार सुन्दर चित्र भी उसमें नहीं हैं। हां, अध्यात्म क्षेत्र से ली हुई उपमाएं अवश्य नवीनता प्रकट करती है।

अध्यात्मरामायण में वर्णन अवश्य अच्छे हैं परन्तु उनका आधार वाल्मीकि है और संक्षेप में होने के कारण वे भली भांति विकसित नहीं हो सके हैं।

जहां संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति इतनी है, वहां मनोविज्ञान के लिए स्थान कहां? अयोध्याकांड जैसा मनोवैज्ञानिक परिस्थिति प्रधान कांड गिनती के श्लोकों में समाप्त कर दिया गया है। परशुराम लक्ष्मण तो हैं ही नहीं।

चरित्र चित्रण की ओर भी विशेष प्रयत्न नहीं है। पात्रों के चरित्र की रेखा वाल्मीकि के आधार पर ही गढ़ी गई है। साधारणतः रामकथा में जिस प्रकार का चरित्र चित्रण हो सकता था, वह है। लेखक की ओर से विशेष प्रयास कहीं भी नहीं है। परन्तु वाल्मीकि की कथा का धरातल लौकिक है, यहां भक्तिपूर्ण आध्यात्मिक। अतः पात्रों में रामभक्ति की भी व्याप्ति है, यद्यपि उतनी नहीं जितनी तुलसी में। राम ब्रह्म हैं, ये सभी जानते हैं, भक्त उनसे सारूप्य मोक्ष और वरदान की आशा रखते हैं। विरोधी दल के कुम्भकरण, मन्दोदरी, शुकसारण, माल्यवान, विभीषण

सभी रामभक्त हैं। यहा तक कि रावण भी प्रच्छन्न राम-भक्त है, मुक्ति की आशा मे ही लड रहा है। तुलसी मे रावण एकदम राम की ब्रह्मसत्ता को अस्वीकार कर देता है। वह भीषण जडवाद का प्रतीक बन गया है। यहा वह प्रच्छन्न भक्त नही है। देवताओ की स्थिति वही है जो भागवत मे है। वे स्वार्थी और भीरु हैं। सदैव खडे फूल बरसाते रहते है।

अध्यात्मरामायण शुद्ध अद्वैत वेदात का ग्रन्थ है जो परमात्मा और जीवात्मा मे तत्त्वत अभेद मानता है। भेद का कारण मायाजन्य अज्ञान या अविद्या है। आत्मा ज्ञानमय और सुखस्वरूप है, उसमे दु ख की प्रतीति अध्यास द्वारा ही होती है। भ्रम से जो अन्य की प्रतीति होती है वह अध्याय है जैसे रज्जु मे सर्प की प्रतीति। इसी प्रकार ईश्वर मे ससार की प्रतीति हो रही है। निरामय, विकल्प, मायारहित, चित्स्वरूप आत्मा मे 'अहकार' रूप अध्यास के कारण इच्छा, अनिच्छा, रागद्वेष और सुख-दुखादि-रूप बुद्धि की वृत्तियो का जन्म होता है जो जन्म मरण का कारण है। अज्ञान (अविद्या) के नाश होने और सत्स्वरूप (तत्त्वमसि) का ज्ञान होने पर भ्रम (अध्यास) का परिहार हो जाता है। परमात्म-भाव (मैं ही ब्रह्म हू) के चितन मे ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त वह यह भी जाने कि समुद्र मे जल, दूध म दूध, महाकाश मे घटाकाशादि की तरह यह सम्पूर्ण जगत् प्रपच भी आत्मा के साथ अभिन्न है और चन्द्रभेद और दिग्भ्रम की भाति मिथ्या है (रामगीता उत्तरकाड)। अध्यात्मरामायण की भक्ति शुद्ध विज्ञानभक्ति (या अभेदभक्ति है) जिसका फल मोक्ष है।

तुलसी की मौलिक देन को समझने के लिए यही आवश्यक नही है कि हम उनके मूल स्रोतो की ओर इगित करें अथवा उस योगायोग की चर्चा करें जो प्राचीन सुभाषितो, नाटको, महाकाव्यो और पुराणो के मथन तथा उपलब्ध सामग्री के सकोच एव विस्तार पर अवलबित है। *तुलसी की मौलिकता का मूल उत्स कहा है, यह भी हमे देखना होगा।* इस मौलिकता ने रचना के सौष्ठव एव उसके आभ्यतर को किस प्रकार

निजत्व दिया है, यह भी विचारणीय होगा। पिछली पन्द्रह शताब्दियों की लिपिबद्ध एव प्रवहमान समस्त सास्कृतिक-साहित्यिक निधि को तुलसी अपनी साधना में किस प्रकार एव किस प्रक्रिया के द्वारा समीकृत कर सके हैं, यह उद्घाटित किए बिना हम तुलसी की मौलिकता का वास्तविक स्वरूप निश्चित नही कर सकेंगे।

तुलसी की मौलिकता का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप हमे राम के व्यक्तित्व-स्थापन और राम-भक्ति के प्रस्तार म मिलता है। ये दो तत्व तुलसी की रामकथा और उनकी जीवनदृष्टि को सार्वभौमिकता देते हैं। वस्तु निर्माण और चरित्रचित्रण इन्ही दोनो तत्वो पर आधारित होने के कारण मौलिक और सशक्त बन सके हैं। पहले हम राम के व्यक्तित्व को लें। दाशरथि राम तुलसी के राम नही हैं, इसको तुलसी ने अपनी रामकथा की भूमिका मे ही स्पष्ट कर दिया है। पुराणो का अनुसरण करते हुए उन्होंने जय-विजय के शापमोचन के लिए वाराह और नरसिंह अवतारो की योजना की है और अत म जलधर तथा प्रतापभानु की कथाओ का आश्रय लेकर रामावतार का विवेचन किया है। परन्तु इस शापमोचन के साथ कश्यप-अदिति की वरदान प्राप्ति की भी योजना है। एक चौथा अवतार-हेतु नारद-शाप कहा गया है। इस प्रकार एक ही रामकथा जलधर, प्रतापभानु, नारद-शाप और कश्यप अदिति के वरदान से चार भिन्न भिन्न भूमिकाओ पर चलती है। फलत चार भिन्न घाटो की भी कल्पना है। ये सब पौराणिक जन्म-हेतु विष्णु के अवतार मे सबधित हैं, परन्तु तुलसी राम मे ब्रह्मत्व की स्थापना कर रहे हैं। फलस्वरूप, शिव-पार्वती-सवाद की भूमिका देकर उन्ह विष्णु के अवतार सगुण राम को दाशरथि राम के ऊपर उठाकर ब्रह्मत्व देना पडा। इस नये योग द्वारा निर्गुण-सगुण के द्वैध के परिहार की सुविधा थी। अत तुलसी ने जानबूझकर शिवकथा[1] को शिवपुराण से उठाकर रामकथा की भूमिका के रूप म उपस्थित किया और दाशरथि राम मे ही निर्गुण राम या परब्रह्मत्व का समाहार किया। शिवकथा 'भागवत'-कथा भी है क्योकि शिव भरत की भाति ही

राम के भक्त हैं। अतः एक अत्यंत प्रिय प्रसंग तुलसी भूमिका के नाते उपस्थित कर सके हैं। शिवकथा में कबीर के निर्गुणवाद की ध्वनि है, 'दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम-नाम का मरम है आना ॥' और तुलसी रामचरितमानस की रामकथा को ही पार्वती के इस प्रश्न का समाधान बनाते हैं—

> ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
> सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद ॥

तुलसी का पक्ष शिव के इस उत्तर में है—

> मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
> कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
> सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
> अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ॥

इसीलिए कथा के बीच-बीच में तुलसी बार-बार दाशरथि राम के निर्गुणत्व अथवा परब्रह्मत्व की घोषणा करते चलते हैं और कथा के अंत में काकभुशुण्डि-प्रसंग के रूप में वे इस प्रसंग को फिर उभारते हैं और सगुण ब्रह्म के दुराग्रही काकभुशुण्डि को राम के निर्गुणत्व का परिचय देते हैं। इस प्रकार निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं रह जाता। भुशुण्डि के शब्दों में—

> व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥
> अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
> निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥
> प्रकृति-पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥
> इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥
> भगत हेतु भगवान प्रभु धरेउ राम तनु भूप।
> किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

इस आयोजना से रामकथा के दाशरथि राम में सगुण अवतारी विष्णु और निर्गुण ब्रह्म पर राम का एकीकरण हो जाता है और राम-

कथा 'प्राकृत कवि' द्वारा रचित 'नर-चरित' से भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

परन्तु रामकथा का स्वाभाविक विकास भी एक व्यापक भूमि पर हुआ है। आरम्भ मे कवि रावण-कुम्भकरण मेघनाथ के दुर्दमनीय आतंक और राक्षसत्व के अपरिसीम विस्तार की योजना करता है जो देवताओ को भी त्रस्त कर देते हैं। गौ का रूप धारण कर स्वय पृथ्वी ब्रह्मा के सम्मुख प्रार्थी होती है और अन्त मे देवताओ सहित ब्रह्मा यह विचार करते हैं कि कहा चला जाए, परन्तु शिव के कहने पर कि 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥' वही स्तुति करने लगते हैं। फलस्वरूप आकाशवाणी के द्वारा उन्हे रामजन्म का आश्वासन मिलता है और अयोध्यापुरी के रघुकुल मे एक अति लघु ज्योतिबिन्दु के रूप मे वह परात्पर शक्ति भूमि पर अवतरित होती है। इसके बाद रामजन्म-कथा का आरम्भ होता है और अत्यन्त क्षिप्र गति से कथा रामविवाह की ओर अग्रसर होती है। यह स्पष्ट है कि बाल-काण्ड का समस्त समारम्भ तुलसी की उर्वरा कल्पना का बहुसूत्री प्रसार है और उसके द्वारा रामचरितमानस की रामकथा को उपयुक्त मनोभूमि और आध्यात्मिकता मिली है।

इस भूमिका के बाद अयोध्याकाण्ड की कथा खुलती है और अन्य काण्डो मे प्रसरित होती हुई अन्त मे लकाकाण्ड मे परिसमाप्ति को प्राप्त होती है। वाल्मीकि रामायण में युद्धकाण्ड के अत मे रामाभिषेक के साथ पटाक्षेप होता है और मानव-श्रेष्ठ रामभद्र राजा रामचद्र के रूप में आदर्श बनकर प्रतिष्ठित होते हैं। तुलसी ने रामाभिषेक को उत्तरकाण्ड मे पल्लवित किया है, परन्तु रामराज्य की स्वर्णिम कल्पना कर वे दाशरथि राम को फिर एक बार अपने भक्त हृदय की भावभूमि देते हैं और काकभुशुण्डि-गरुड सवाद मे ऐसी नियोजना करते हैं जिससे वे राम किसी एक युग, एक लोक, एक कल्प तक सीमित न रहकर युगातीत, लोकोत्तर और अकल्पित बन जाते हैं। इस योजना ने जहा बालकाण्ड के आरम्भ

में प्रतिपादित रामत्व को भावभूमि दी है, वहा सगुण ,राम निर्गुण राम की सहस्रश: विस्तृति विकसित कर लेते हैं और पुरुष सूक्त के 'सहस्र शीर्ष: सहस्र पाद.' विराटत्व के रूपक बन जाते हैं। अगणित भुवनो मे भ्रमण करते हुए काकभुशुण्डि असीम नानात्व मे भी एकात्मरूपी राम को समान रूप से देखते हैं। वे कहते हैं :

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका ॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा ॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर ॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्‌भुत देखेउँ बरनि कवनि विधि जाइ ॥
एक एक ब्रह्माण्ड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि विधि देखत फिरउँ मैं अड कटाह अनेक ॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥
नर गंधर्व भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला ॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती ॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपच तहँ आनइ आना ॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा ॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी ॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता ॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखउँ बालविनोद अपारा ॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥

इस चमत्कृति, अपरिसीमिता और अकल्पित विभिन्नता की पृष्ठभूमि देकर तुलसी राम के 'रामत्व' को इस कुशलता से प्रतिपादित करते हैं

कि मन चकित हो जाता है। अखिल ब्रह्माण्डो की भेदमयी सत्ता के केन्द्र मे स्थित अभेद मूल रूप से अग्राह्य और अतीन्द्रिय होने पर भी अपने लीलामय नाम-रूपमूलक प्रसार मे गृहीत और इन्द्रियकल्प है। इस नानात्व की वैचित्र्यमयी कलाविधिया ही सगुण दाशरथि राम के रूप मे परिकल्पित हैं। इस प्रकार अभेद और भेद मे नाता जुड जाता है और इस समष्टिमूलक एकान्विति की भूमिका पर उठकर तुलसी 'सीयराम मय सब जग' जानते हुए इस दृश्य को ही दृश्यान्तर का प्रतीक मानकर प्रणमित होते हैं। ऋषि-दृष्टि की यह सर्वभुक्ता और सार्वजनीनता ही तुलसी की विशेषता है। यही 'राम'-दर्शन तुलसी की रचनाओ को केन्द्र देता है और उन्हे द्रष्टा बनाता है। अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास 'युद्ध और शाति' मे जिस प्रकार टाल्स्टाय ने नेपोलियन के अभियानो से ऊपर उठकर देश-काल का अतिक्रमण करते हुए कथा को महान् अर्थ दिए हैं, उसी प्रकार तुलसी के कथा-सौष्ठव ने वाल्मीकि के युग पुरुष राम को युगातीत विश्वात्मा अथवा 'परात्पर' बना दिया है। सत्, चित् और आनन्द मे प्रतिष्ठित तथा देश-काल, वृद्धि-ह्रास, सर्ग-प्रलय से निरपेक्ष परात्पर राम (ब्रह्म) को तुलसी अपना अन्यतम स्पन्दन बनाकर लोकनायक का रूप देने मे सफल हुए हैं। उनके राम उनके होकर भी सबके है। इस प्रकार व्यष्टि की साधना और समष्टि के हित का समाहार हो गया है। सौन्दर्य, शील और शौर्य के चरम उत्कर्ष के निरूपण ने तुलसी के राम को इतना मानवीय बना दिया है कि हम क्षण भर मे उनके परात्पर रूप को भूल जाते हैं और 'असेष सेष की गोदी मे खिलौना' बन जाता है। सगुण-निर्गुण की इस द्वन्द्वात्मकता का शमन जिस अतर्योजित मन भूमि पर सम्भव हुआ है वह कवि की व्यक्ति-मुखी भावभूमि है जो उसके लिए स्वय रहस्य है। इस रहस्य-भूमि का आशिक उद्घाटन ही रामचरितमानस तथा अन्य रचनाओ मे हो सका है। कथा, चरित्र, भाव और भाषा की सारी शक्ति इस रहस्यनिर्माण मे लगी है परन्तु प्रत्येक पाठक के लिए सवेदना के इस सर्वोच्च सोपान तक

पहुचना कठिन है। इस सोपान की ओर इगित करते हुए ही कवि ने कहा है—

रामचरित के मिति जग नाहीं।

रामचरित मे तुलसी ने जिन गुप्त-प्रगट मणि-माणिको की कल्पना की है, उनमे 'प्रगट' राम की चारित्रिक उत्कृष्टता है, 'गुप्त' उनका अपौरुषेय दिव्य रूप। तुलसी की रामकथा मे रहस्यात्मकता की खोज की गई है और विनयपत्रिका के एक पद (सख्या ५८) मे प्रतीकार्थ का आभास भी मिलता है, परन्तु इस प्रतीकार्थ से कही बडी चीज वह असामान्यता है जो स्वय राम के व्यक्तित्वगत द्वैध मे सपुटित है, जो निर्गुण-सगुण के दो विभिन्न स्तरो पर चलता है और एक समन्वित इकाई की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण रामचरित को वर्णित करके भी तुलसी को तोष नही होना और वे शिव के माध्यम से कहते हैं—

रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
राम अनन्त अनन्त गुनानी। जन्म कर्म अनन्त नामानी॥
जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥

यह विभ्रम और विराटत्व तुलसी की रामकथा को मौलिक अर्थ प्रदान करता है और उसे सार्वकालिकता देता है।

परन्तु राम के इस विराट् रूप को तुलसी ने ज्ञान की विशिष्ट भूमि पर से उतारकर भक्ति के सामान्य धरातल पर स्थिर किया है जो और भी चमत्कारक है। वे रामचरित मे अन्तर्निहित 'रस-विशेष' की ओर इगित करते हैं और उसीमे रामकथा की सार्थकता मानते हैं। रस-विशेष अथवा भक्ति। आदि से अन्त तक रामचरितमानस की प्रत्येक पक्ति इस विशेष रस से ओतप्रोत है और साहित्य, सगीत एव कला के सारे उपकरण भक्ति-रस की समृद्धि मे लगे हैं। तुलसी की अतिरिक्त भक्ति-भावना भी रामकथा के पात्रो का एक अग बन गई है, यहा तक कि प्रतिपक्षी रावण भी प्रच्छन्न भक्त है। फल यह हुआ है कि कथा के साथ चरित्रो मे भी

मौलिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन हुआ है और रामचरित रामलीला बन गया है। इस 'लीला' भाव मे ही भक्त तुलसी की विजय और दाशरथि राम के चरित्रगत दोषो का परिहार है। यद्यपि भगवान् राम की इस लीला को तुलसी ने दास्य भाव से देखा है, परन्तु उनका दास्य भाव सेवक-सेव्य भक्तिमात्र नही है, उसमे पुराणोक्त नवधा भक्ति के साथ तन्मयासक्ति-प्रधान विह्वल दैन्य भावना का भी प्रसार है जिसमे मधुर भक्ति की तरलता साफ झलकती है। उत्तरकाण्ड की परिसमाप्ति पर तुलसी दो दोहो मे अपने भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं—

> मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
> अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥
> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

विनयपत्रिका के अनेक पदो मे दास्य भक्ति का यही तरल और आकुल स्वरूप मिलता है। भक्ति का यह स्वरूप तुलसी का अत्यन्त मौलिक पक्ष है और उसे उनकी साधना का बल प्राप्त है। वास्तव मे तुलसी की कवि-दृष्टि दाशरथि राम के लीलात्मक, चिन्मय, विराट् स्वरूप और अनत प्रसार तथा अपने भावाकुल, दीन, समर्पण-प्रधान व्यक्तित्व पर एक साथ और बराबर रही है और इस नैरंतर्य मे अनेक द्वन्द्वो और समस्याओ का समाधान स्वतः ही हो गया है। तुलसी के काव्य के इस सूक्ष्म तथा विलक्षण पहलू को ध्यान मे रखकर ही हम उनकी मौलिकता को सम्यक् महत्त्व दे सकेंगे। यही उनके साहित्य-कोष का 'बीजक' है।

वास्तव में तुलसी और उनकी विशिष्ट अनुभूति (भक्ति) को केन्द्र मे रखकर ही हम उनकी रचनाओ में परम्परा और मौलिकता की पटरी बिठा सकेंगे। इस दृष्टिकोण से काव्य के व्यक्तिपरक और व्यक्तिनिरपेक्ष रूपो का लोप हो जाता है और तुलसी की रामकथा दाशरथि राम की प्रचलित कथा न होकर भावयोगी तुलसी की स्वलब्धि बन जाती है। सामने आता है एक विराट् नैतिक जगत् जिसके केन्द्र मे हैं भोक्ता तुलसी।

राम इस 'ऋद्' के प्रतीक हैं। भोक्ता तुलसी की अनुभूति ही उस प्रक्रिया को जन्म देती है जो रामचरितमानस जैसी संहृत कलाकृति में परिणति प्राप्त करती है। रामचरितमानस तुलसी के लिए आत्मशोध, आत्मोपलब्धि और आत्मनिर्माण का साधन है जैसा तुलसी ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'स्वान्तःसुखाय' और अन्त में 'पायो परमु विश्रामु' तथा 'स्वान्तस्तमःशातये' लिखकर संकेतित किया है। फिर भी यह विशेषता है कि इस प्रक्रिया से छनकर तुलसी की सर्जना व्यक्तिनिरपेक्ष बन गई है। मौलिकता का श्रेष्ठतम सम्बल पाकर भी तुलसी का रामचरितमानस लोक-मानस बन सका है, यह तुलसी की कवि-प्रतिभा और उनकी जागरूक कलाकारिता का प्रमाण है। रामचरितमानस कवि के ही जीवन की केन्द्रीय घटना नहीं है, वह भारतीय संस्कृति की मंगलयात्रा की भी प्रमुख घटना है और तुलसी की सक्षम कवि-वाणी का बल पाकर आज भी हममें से प्रत्येक की जीवन की अघटित घटना बनने में समर्थ है। जिस मौलिकता ने तुलसी की रचना को ऐसी अक्षय शक्ति दी है उसे प्राचीन ग्रन्थों के भाव-साम्य पर ही समाप्त नहीं किया जा सकता। उसकी जड़ें गहरी गई हैं और तुलसी के व्यक्तित्व, उनकी साधना एवं उनके संकल्प-विकल्प में ही उनका प्रसार खोजा जा सकेगा।

डॉ० राजपति दीक्षित

८

तुलसी का साहित्यिक उपहार

गोस्वामी तुलसीदास का साहित्यिक उपहार ऐसा नही है कि हम उसे उनकी पूर्ववर्ती या सामयिक विभिन्न प्रचलित काव्य-पद्धतियों का अनुकरणमात्र कह दें। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल जो लगभग चार-पाच सौ वर्षों के लम्बे अन्तराल के भीतर विविध सम-विषम परिस्थितियो मे फूला-फला, पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। यह क्षेत्र अव्यवस्थित और दो रगी था। उसका परिचय इसीसे होता है कि इस काल की रचनाए अपभ्रश तथा देशभाषा दोनों मे उपलब्ध होती हैं। अपभ्रश काल की कृतियो के नमूने वाली हिन्दी बौद्धो की वज्रयान शाखा के सिद्धो के गीतो, वाममार्गोपदेशो, अन्तर्मुख साधनो तथा घट के भीतर विहार-निरूपिणी अटपटी बानियो मे देखी जा सकती है। (ये रचनाए पुरानी हिन्दी के सप्तम शतक से नवम शतक तक के स्वरूप की ज्ञापक हैं) देवसेन नामक जैन ग्रन्थकार (स० ९९०) कृत 'श्रावकाचार', 'दव्व सहाव पयास' आदि ग्रन्थ दोहो मे इसी काल मे बने। इनके अतिरिक्त जैन कवियो की अन्यान्य कृतिया, यथा, 'सुयपचमी कहा', 'योगसार', 'जसहर चरिउ', 'णाय कुमार चरिउ' आदि भी पाई जाती हैं। इनमे चरित काव्य या आख्यान काव्य के लिए चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। गोरख पन्थ के योगियो ने भी आदि काल के हिन्दी साहित्य मे अपनी अनेकानेक कृतिया छोडी हैं। पर सिद्धो और योगियो की रचनाओ के

विषय मे यह न भूलना चाहिए कि वे तान्त्रिक विधान, योग-साधना, श्वास-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रो और नाडियो की स्थिति, अन्तर्मुख-साधना के महत्त्व आदि की साम्प्रदायिक शिक्षा-मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो और दशाओ से उनका कोई सम्बन्ध नही। अत वे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नही आती। फलत. इनकी चर्चा यही छोड हम सामान्य साहित्य के अन्तर्गत रचनाओ मे हेमचन्द्र कृत उनके अपभ्रंश के उदाहरणो को कह सकते हैं। साथ ही सोमप्रभ सूरि के 'कुमारपालप्रतिबोध' मे व्यवहृत अपभ्रश के पद्यो को भी। जैनाचार्य मेरुतुग के 'प्रवन्धचिन्तामणि' मे मुञ्ज के कहे हुए दोहे अपभ्रश या पुरानी हिन्दी के बहुत पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। शार्ङ्गधर कृत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' सुभाषित-सग्रह के बीच-बीच मे भी देश-भाषा के वाक्य आए हैं। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक वीरगाथा-काव्य की भी रचना भाषा मे की थी।

अब दूसरे रग अर्थात् देश-भाषा वाले आदिकाल के काव्य को लीजिए। सामान्यत यह चारणो और भाटो का गान था, जिसे वे अपने आश्रयदाता के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि के समय अलापते थे या रण-क्षेत्रो मे जाकर वीरो के हृदय मे उत्साह की उमगें जगाने के लिए रचते थे। इस दशा मे काव्य या साहित्य के भिन्न-भिन्न अगो की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। अत वीर-गाथाओ की ही उत्पत्ति हुई। ऐसी रचनाओ मे 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' प्रभृति ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। भले ही ये सन्दिग्ध हैं, पर प्राकृत की रूढियो से मुक्त भाषा के पुराने काव्य की परम्परा का हम जो सक्षिप्त विवेचन करते हैं वह इन्हीके आधार पर करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नही। वीरगाथा-काव्य यद्यपि मुक्तक और प्रबन्ध दोनो रूपो मे उपलब्ध होता है, पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रबन्धात्मक स्वरूप ही है। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप मे जो सबसे प्राचीन ग्रथ प्राप्त है वह है—'पृथ्वीराज रासो'। यद्यपि यह हमारे साहित्य मे आज तक के जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमे

सबसे वृहत्काय है तथापि यह आमूलचूल उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इसमे सदेह नहीं कि इसके इतने विस्तृत उनहत्तर समयों (सर्गों या अध्यायो) मे अनेकानेक सुन्दर काव्य-सौष्ठव-पूर्ण प्रसंगो का सन्निवेश भी है, प्राचीन समय मे प्रचलित प्रायः सभी छन्दो, विशेषतया कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या आदि का व्यवहार हुआ है, किन्तु छन्दों की विविधता, अध्यायो की विपुलता और रमणीय काव्यात्मक वर्णनों का होना ही तो उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य की आधार-शिला नही है। वस्तुत. प्रबन्ध का मेरुदण्ड है—उसके कथानक की धारावाहिकता, उसमे प्रतिष्ठित राष्ट्रीयता, उसमे ग ᳚ ᳚ सार्वदेशीय मानवता और इन सबके मूल मे प्रबन्धकार की सर्वभू व्यापिनी दृष्टि का गम्भीर प्रकाश। 'रासो' मे ये बातें कहा? वह तो कवि के आश्रय-दाता का प्रशस्ति-गान मात्र है जिसमे जीवन के एकांगी स्वरूप का कृत्रिम प्रदर्शन है। अशान्ति काल का साहित्य होने के कारण यह सास्कृतिक दृष्टि से भी अधूरा है, केवल क्षत्रिय जाति के वीरोत्साह का वर्णन करता है। हम इसे अव्यवस्थित प्रबन्ध-काव्य के अतिरिक्त और क्या कह सकते है? ऐसे अव्यवस्थित प्रबन्ध मे हमे सुव्यवस्थित परिधान की आशा भी नही करनी चाहिए, अर्थात् 'रासो' की भाषा भी अव्यवस्थित है। व्याकरणच्युत इसकी तिरगी भाषा (अर्थात् कही अनुस्वारान्त सस्कृत और प्राकृत की अन्धी नकल, कही अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के प्रयोग, तो कही अर्वाचीन हिन्दी के स्वरूप) की लपेट मे पडकर हम प्राचीन हिन्दी भाषा या साहित्य की इतिहास-शृखला नही बाध सकते और न आगे कोई विशेष लाभ ही उठा सकते हैं।

वीरगाथा-काल के अन्य छोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थो के विषय मे और कुछ न कहकर जब हम इस काल के अनन्तर प्रवाहित होने वाले निर्गुण-मत-प्रचारक सन्त-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमे भी काव्य के अविकसित स्वरूप का ही समावेश हुआ है। इसकी रचनाएं केवल मुक्तको के रूप मे पाई जाती हैं। नामदेव, कबीर तथा

अन्यान्य निर्गुणियों के दोहे या पद मुक्तक के ही रूप मे है। उनकी भाषा और शैली अधिकतर ऊटपटाग है। उनमे उपदेशात्मक और प्रचारार्थक वचनो का प्राधान्य है। वे साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्यवादपूर्ण भी है। उनमे सच्छास्त्रो के प्रति अनास्था और प्राचीन वर्णाश्रम धर्म एव उसके विधानो की निन्दा भी है। यह नही कहा जा सकता कि इस पद्धति की रचनाए साम्प्रदायिकता से शून्य थी या ये मतवाद का विषम विष नही वमन करती थी। उनमे जीवन के प्रति उपेक्षा थी। वे वैराग्य-प्रधान थी। वैयक्तिक साधना को प्रश्रय देने वाली थी।

इस सिलसिले मे सूफी साहित्य-पद्धति भी अवलोकनीय है। इस पद्धति के शुद्ध प्रेम-मार्गी सूफी-कवियो की प्रेम-गाथाए वास्तव मे साहित्य कोटि के भीतर आती है। इनमे प्राय सभी कवियो ने कहानियो के द्वारा प्रेम मार्ग का महत्त्व दिखाया है। मार्मिक ढग से लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेम-तत्त्व का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर की प्राप्ति कराने वाला है। इनकी सभी कहानियो मे सामान्यत यही वर्णित है कि कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के अप्रतिम सौंदर्य की चर्चा सुनकर प्रेमोन्मत्त हो गया, उसकी प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व त्यागकर भारी से भारी सकटो और आपत्तियो को झेला और अन्त मे उसे प्राप्त किया। पर प्रेम की पीर की जो व्यजना होती है वह ऐसे विश्व-व्यापक रूप मे होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे का दिखाई पडता है। प्रेम-कल्पना, उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्यजना, बीच-बीच मे रहस्यमय परोक्ष की ओर हृदयग्राही मधुर सकेत आदि भी सूफी कवियो की निजी विशेषताए हैं। कुछ की रचनाओ मे साधनात्मक रहस्यवाद, हठयोग आदि की जो झलक मिलती है वह भारतीय योगियो, रसायनियो और तान्त्रिको का प्रभाव है। अपनी प्रेम-कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए सूफी कवियो ने जिन प्रतीकात्मक कथाओ को चुना वे हिन्दुओ के घर मे प्राचीन काल से प्रचलित कहानियां हैं। 'कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू हैं।' सूफ़ियो के प्रबन्ध-काव्यो की रचना सस्कृत महाकाव्य की सर्गबद्ध-पद्धति पर नही

है, फारसी की मसनवी शैली पर है; पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन कुछ अंशों में चली आती हुई भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार है। इस पद्धति के सभी प्रबन्ध-काव्यों के छन्द एवं भाषा में एकरूपता है, अर्थात् भाषा ठेठ अवधी है और प्रयुक्त छन्द है—चौपाई-दोहा। आख्यान-काव्यों के लिए चौपाई दोहे की परम्परा बहुत पुराने (विक्रम के ग्यारहवें शतक के) जैन चरित-काव्यों में मिलती है, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। सूफी साहित्य-पद्धति में यों तो अनेक कवि आते हैं, पर उन सबमें जायसी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनका 'पद्मावत' हिन्दी-काव्य क्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है।

अब हमें साहित्य की उस पद-पद्धति की ओर देखना है जिसके द्वारा कृष्णोपासना का मंजु स्वरूप द्युतिमान् हुआ। इस पद्धति के विपुल भंडार को संपन्न करने वाले अगणित पदों के सम्बन्ध में कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्रज भाषा में मुक्तक प्रगीतों के रूप में हैं। जिज्ञास्य है कि हिन्दी साहित्य में ऐसे मुक्तक पदों का चलन कब से आया। अमीर खुसरो के गीतों, विद्यापति की पदावली तथा कबीर की पदावली को ध्यान में रखते हुए यह कथन समीचीन होगा कि मुक्तक पदों की रचनाएं भी हिन्दी साहित्य के आदि काल से ही होती रहीं। पर उनका चरमोत्कर्ष सोलहवें शतक में प्रस्फुटित हुआ, जैसा कि कृष्णोपासक अष्टछाप तथा अन्यान्य कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं से अवगत होता है। सूरदास के अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों को हम पद-पद्धति *साहित्य का सर्वोत्कृष्ट आदर्श कह सकते हैं।* इनमें जो *रचना-प्रगल्भता* और काव्यांगों की परिपूर्णता है उसके आधार पर 'सूरसागर' किसी चली आती हुई गीत-काव्य परंपरा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है। इस पद्धति के वर्ण्य-विषय की ओर देखने से प्रकट होता है कि इसमें कृष्ण की बाल-लीला तथा विशेष रूप से राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला ही सब ने गाई है, किसीने उनका सर्वांगीण चरित्र नहीं ग्रहण किया है। फलतः पद-रचनाओं में न तो जीवन के अनेक

गम्भीर पक्षो का मार्मिक पोषण हुआ और न अनेकरूपता ही आई है। हा, इस पद्धति ने वात्सल्य और शृगार रस का अपार सागर भर दिया, इसमे सदेह नही।

गोस्वामी के पूर्व की पद्धतियो के सक्षिप्त परिचय के साथ उनकी एकागिता और अपूर्णता का आभास दिया जा चुका। अब जब हम तुलसी की रचनाओ की ओर दृष्टि दौडाते हैं तो हमे उनके साहित्यिक उपहार की नवीनता और व्यापकता ही चतुर्दिक् दृष्टिगत होती है। उन्होने चन्दवरदाई की भाति ऐसा प्रबन्ध-महाकाव्य नहीं लिखा जो किसी प्रकार एकदेशीय, अव्यवस्थित, अविकसित हो या उत्कृष्ट प्रबन्धगत विभूतियो से शून्य हो, प्रत्युत उन्होने ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसमे प्रबन्ध-पटुता की सर्वांगीण कला का पूर्ण परिपाक हुआ और जो हिंदी के प्रबन्ध-काव्यो का आदर्श तथा शिरोमणि बना। आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति गाने के लिए चारणो या भाटो की जो कवित्त, छप्पय सवैया आदि की मुक्तक पद्धति आदि काल मे चली थी उसमे भी तुलसी ने क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टि से पूर्णता ला दी। उन्होने कवितावली के मुक्तक छदो मे अपने उपास्य का ऐसा मार्मिक प्रशस्ति-गान किया कि उसकी समता कोई प्राकृत जन गुण-गायक कवि क्या करेगा। जिन कवित्त, सवैया आदि को चारणो की सकुचित दृष्टि ने वीर या शृगार की अभिव्यक्ति का एकमात्र छन्द समझा था उन्हीको बाबाजी ने ऐसे सुडौल रूप से ढाला कि उनमे सभी रसो की सुषमा देखते ही बनती है। कबीर और जायसी के मन्तव्यो का यथोचित सामजस्य और परिष्कार तथा शैली का सस्कार करके अपना लिया। इस्लामी प्रभाव के कारण इन दोनो मे भारतीयता और सास्कृतिक चेतना का अभाव तो था ही, साथ ही वे हिन्दुओ के धार्मिक और सामाजिक ऐतिह्य तथ्यो से पराङ्मुख भी थे। रहस्यवादी तो थे ही। गोस्वामी जी ने इनकी उक्त त्रुटियो को त्याग-कर उनकी बातो मे पूर्ण भारतीयता और सस्कृति का योग करके उन्हे सांगोपाग काव्य के रूप मे प्रकट किया। उन्होंने पद पद्धति को भी अप-

नाया। एक ओर उपासना और साधना-प्रधान एक से एक बढ़कर विनयपत्रिका के पद रचे और दूसरी ओर लीला-प्रधान गीतावली तथा कृष्णगीतावली के पद। उपासना-प्रधान पदों की जैसी व्यापक रचना तुलसी ने की है वैसी इस पद्धति के अद्वितीय कवि सूरदास ने भी नहीं की। पदों की भाषा में प्रान्तीयता और तोड़-मरोड़ की जो भद्दी गाठें थी उन्हें घुलाकर सार्वदेशीय सुसंस्कृत ब्रजभाषा का बेजोड़ प्रयोग करना भी तुलसी ने सिखाया। उन्होंने कुछ लोकगीतों को साहित्यिक रूप देने का *कार्य भी किया जैसा कि 'नहछू', दोनों 'मगल' और 'बरवै' की रचनाओं* से प्रकट होता है।

गोस्वामी ने कवि-कर्म की महिमा तथा उसकी दुरूहता के व्यञ्जनार्थ अपनी प्रभूत विनम्रतावश अपने विषय में कहा है—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कबित बिवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

o o o

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥

काव्य के विविध रूपों पर अधिकार

इस कथन को देख उनकी अलौकिक कवित्व-शक्ति पर किसी प्रकार का आवरण नहीं डाला जा सकता। यह बात अवश्य है कि मुख्य रूप से वे भक्त थे, पर आनुषंगिक रूप से कवि भी। उनकी कृतियां प्रमाणित करती हैं कि काव्य के विविध रूपों पर उनका अनन्य अधिकार था। कविता के *मुख्य दो विभाग किए जा सकते हैं*, प्रथम भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान अथवा आत्माभिव्यञ्जक कविता तथा द्वितीय विषय प्रधान अथवा लोकाभिव्यञ्जक कविता। इन दोनों विभागों के लिए कर्तृ-प्रधान कविता (सबजेक्टिव पोएट्री) तथा कर्म-प्रधान कविता (आबजेक्टिव पोएट्री) का प्रयोग भी अनुपयुक्त न होगा। कर्तृ-प्रधान कविता में कवि का हृदय उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जैसे एक उत्तम, सुप्रभ

दर्पण मे किसी व्यक्ति का प्रतिबिम्ब । यद्यपि इस प्रकार की कविता कवि के वैयक्तिक विचारो और भावो की व्यञ्जक होती है पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि ये व्यञ्जित भाव मानव-जाति के भावो के प्रतिनिधि होते हैं। तभी तो वे पाठको को भी आत्मीय उद्गार-से प्रतीत होते हैं। शृगार, नीति, स्तुति, निन्दा आदि की मुक्तक रचनाओ का अन्तर्भाव इसी कोटि मे किया जाता है। कर्म-प्रधान कविता का कवि के विचारो और मनोभावो से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता। उसके विषय सासारिक भाव और कार्य होते हैं। कवि बाह्य जगत् मे जा मिलता है और उसीसे प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूढता है, फिर उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अन्तरात्मा को जहा तक हो सकता है, प्रच्छन्न रखता है। उसकी दृष्टि जगत् के वास्तविक दृश्यो और जीवन की वास्तविक दशाओ के निरूपण की ओर रहती है न कि आत्माभिव्यञ्जन की ओर। कर्म-प्रधान कविता के दो मुख्य भेद खण्डकाव्य और महाकाव्य हैं। कर्तृ-प्रधान और कर्म-प्रधान दोनो मे उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, तथापि कर्म-प्रधान कविता यथातथ्य पर विशेषतया आधारित होने से विषय के यथार्थ निरूपण के कारण श्रेष्ठ समझी जाती है।

विचारणीय है कि काव्य के उक्त स्वरूपो अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य तथा महाकाव्य पर गोस्वामी ने अपना कैसा अधिकार दिखाया है। मुक्तक काव्य के स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट होते ही, सर्वप्रथम हम, देखते हैं कि उसमे प्रत्येक पद्य अपनी अलग सत्ता बनाए रहता है। ऐसा नहीं होता कि एक पद्य अपना अस्तित्व रखने के लिए दूसरे पद्यो पर किसी प्रकार अवलम्बित रहता हो। यद्यपि अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है—"पूर्वापर-निरपेक्षापि हि ये न रसचर्वणाक्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् जिसका रसास्वाद पूर्वापर प्रसगों की अपेक्षा नही रखता उसे मुक्तक कहते हैं, ऐसा होने पर यह आवश्यक नही है कि मुक्तक पद्य मे किसी रस की ही निष्पत्ति हो। उसमें वाग्वैदग्ध्य और सुभाषित अर्थात् नीति-धर्म-उपदेश-समन्वित सूक्ति भी हो सकती है। मुक्तक का उपयोग वस्तुत नीति-सुभाषित में ही अधिक

फबता है, क्योकि इसमें पूर्वापर प्रसग की इतनी आवश्यकता नही रहती। मुक्तक की परिधि मे रस के विविध अवयवो को जुटाकर रस की निष्पत्ति का सागोपाग निर्वाह करना बडे ही कुशल कवि का कर्म है, फलतः ऐसे प्रसगो मे मुक्तककार को अधिकाश मे व्यञ्जना शक्ति का प्रयोग करना पडता है। इसमें बहुधा पूर्वापर प्रसग की कल्पना का कार्य सहृदय पाठक या श्रोता पर छोड दिया जाता है। वे मुक्तक का आनन्द उठाने के लिए एक पूरे प्रसग का स्वत मानसिक अध्याहार कर लेते हैं। मुक्तक का प्रभावाभिव्यञ्जन इस बात का द्योतक है कि जहा खण्डकाव्य महाकाव्य आदि प्रबन्धो मे भाव की पुन-पुन दीप्ति होने के कारण कुछ काल तक प्रसरणशीलता देखी जाती है, वहा मुक्तक रचनाओ मे यह भावदशा कुछ क्षणों तक ही टिकती है, पर वह इतनी तीव्र और मार्मिक होती है कि उसका प्रभाव भी किसी प्रकार हीन नही होता। तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध मे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का दर्शन करते हुए कथा-प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न होजाता है और हृदय मे एक स्थायी भाव ग्रहण करता है। किन्तु मुक्तक मे रस के ऐसे स्निग्ध छीटे पडते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। उसमे अधिक से अधिक एक मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्य के सहसा सामने लाए जाने के कारण पाठक या श्रोता मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है अवश्य, किन्तु कुछ क्षणो के लिए ही। यह भी स्मरण रहे कि मुक्तक की इस कुछ क्षणो की ही मुग्धकारिणी प्रकृति मे भी कभी-कभी जीवनपर्यन्त टिकी रहने वाली विशेष मन स्थिति की अनूठी व्यञ्जना भी रहती है। प्रबन्धकार प्रबन्ध को काल-व्यतिक्रम दोष से बचाने, चरित्राकन और वर्णन की दृष्टि से पूर्णता लाने तथा उसके अन्यान्य नियमो का निर्वाह करने के नियन्त्रण मे पडकर स्वच्छन्दता से अपना हृदय खोलकर नही दिखा पाता, इसके विपरीत मुक्तककार पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ अपने हृदय का अणु-अणु बिना किसी प्रतिरोध के दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक की सक्षिप्तता की उपयोगिता भी निर्विवाद है। जीवन के झमेलो मे व्यस्त

प्राणियो को प्रबन्ध का आनन्द उठाने के लिए इतना अनिर्बन्ध अवकाश कहा है। जहा उनका समय परस्पर आनन्द-विनोद मे व्यय हो रहा है वहा प्रबन्ध के लिए स्थान नही है। सभा-समाजो के लिए मुक्तक की सक्षिप्त रचना ही उपयुक्त है। मुक्तक की इन विशेषताओ को अनावृत करने का अभिप्राय प्रबन्ध की गरिमा पर आक्षेप करना नही है। प्रबन्ध-काव्य तो श्रेष्ठ है ही किन्तु मुक्तक भी आरोचनयुक्त होने से निंद्य नही कहा जा सकता।

मुक्तक की इस सामान्य चर्चा के अनन्तर हम दोहावली, बरवै रामायण, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली तथा विनयपत्रिका का नामोल्लेख इसलिए करते हैं कि ये गोस्वामी की उत्कृष्ट मुक्तक रचनाए है। इन्हे मुक्तक की किसी तुला पर तौलिए, इनके सभी पद्य सन्तुलित मिलेंगे। ऐसे सन्तुलन के समय हमें यह भी स्मरण रहे कि पाचो उगलिया बराबर नही होती। अर्थात् तुलसी के सभी मुक्तक पद्य उत्तम कोटि के व्यग्य-प्रधान काव्य ही नही है, उनमे मध्यम कोटि के गुणीभूत काव्य के नमूने भी हैं और अधम कोटि के अव्यग्य काव्य के भी। अन्तिम श्रेणी के काव्य मे बाबाजी के उन सभी पद्यो की परिगणना करनी चाहिए जिनमे शब्दचित्र और वाच्यचित्र की रमणीयता के साथ उन्होने सामान्य अनुभूति के क्षेत्र के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और पारमार्थिक तथ्यो को ही ऐसे नये और विशेष ढग से कहा है कि वे भी अपनी प्रभविष्णुता और प्रसाद गुण के कारण जन-साधारण के हृदय मे घर कर लेते हैं। दोहावली मे ऐसे कथनो का आधिक्य है।

गोस्वामी की मुक्तक श्रेणी मे आने वाली रचनाओ के विषय में यह भी ध्यान देने की बात है कि मुक्तक होने पर भी उनमे सभी कर्तृ-प्रधान नही हैं, प्रत्युत अधिकाश कर्म-प्रधान ही हैं। गीतावली यद्यपि गीतकाव्य है, फिर भी यह आद्योपान्त कथा को लेकर चली है। इसी प्रकार कवितावली के लकाकाण्ड पर्यन्त जिन पद्यो का निर्माण हुआ है वे सब भी कथा-प्रसग लेकर चले हैं। केवल उसके उत्तरकाण्ड मे कवि का आत्माभिव्यञ्जन परलक्षित होता है। इसी प्रकार विनयपत्रिका के पदो

में भी उन्होंने अपना वैयक्तिक हृदय खोल-खोलकर दिखाया है। अस्तु विनयपत्रिका के अधिकांश पदों और कवितावली के उत्तरकाण्ड क रचनाओं को कर्तृ-प्रधान काव्य कहा जा सकता है, अन्यथा उनकी अन्य मुक्तक रचनाएं भी कर्म-प्रधान काव्य हैं।

विचारणीय है कि गोस्वामी की अक्षय कीर्ति के मूल आधार मानस के प्रणयन में शास्त्रीय महाकाव्योचित लक्षणों का अनुधावन कैसे किया गया है। संस्कृत के प्राचीन आलंकारिकों में भामह और दंडी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन आलंकारिकों में विश्वनाथ कविराज भी। इन्हीं तीनों के ग्रन्थों में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखकर उनके प्रकाश में मानस का महाकाव्यत्व दिखाने का प्रयास किया जाता है।

मानस में सर्गबन्ध के स्थान पर जो आख्यान योजना की रीति अवगत होती है वह ऋषि-प्रणीत महाकाव्य के अनुसार है। ग्रंथारम्भ में देवों का अभिवादन भी महाकाव्य की रीति का पालन है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं ही। उसमें चतुर्वर्ग की सिद्धि का उदात्त लक्ष्य भी है, उपक्रम में गोस्वामी ने स्वयं कहा है, 'अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिज्ञान बिचारी॥' नगर-वर्णन महाकाव्य का अंग है, इसे देखना हो तो जनकपुरी, लंका तथा अयोध्या की रम्यता एवं वैभव के द्योतक वर्णनों का अवलोकन कीजिए। ग्रन्थ में समुद्र और सामुद्रिक जलचरों का दृश्य भी अंकित है। पर्वतीय प्रान्तों और वनखण्डों की सुषमा चित्रकूट-वर्णन में देखी जा सकती है। ऋतुओं का वर्णन ढूंढना हो तो सीता-हरण के पश्चात् राम के प्रवर्षण-वास के प्रसंग में वर्षा और शरद् ऋतु के रुचिर चित्रण को देखिए। ऋतुराज वसन्त तो अनकानेक प्रसंगों में चित्रित है, विशेषतः जनक की वाटिका में तो उसका अवतार ही बताया गया है। चन्द्रोदय और सूर्योदय के मनोहर वर्णन का अभाव भी नहीं है। उद्दीपन के रूप में वर्णित जनक के उद्यान में सीता-राम के पूर्वानुराग का चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन भी,

अप्रतिम है। महाकाव्य के अन्यान्य लक्षण, यथा—संयत संयोग शृगार, विप्रलम्भ शृगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्र, दूत-कर्म, अभियान, युद्ध और नायक के अभ्युदय आदि के उत्तमोत्तम वर्णनो की छटा भी मानस मे है। इसके यथोचित विस्तृत, अलकृत और सरस एव भाव-परिपूर्ण होने मे कोई सन्देह नही है। इसकी प्रत्येक कथा अपनी उचित परिधि मे वर्तमान है। इसमे श्रुतिमधुर प्रसगानुकूल छन्दो और उपयुक्त नाट्य-सन्धियो का भी पूर्ण समावेश है। यह महाकाव्योपयोगी तीनो प्रधान रसो (शृगार, वीर, शान्त) से पूर्णतया अभिषिक्त है, पर यह अवश्य है कि इसमे शान्त (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है, अन्य सभी रस इसीके (भक्ति रस के) अगभूत हैं। इसमे आरम्भ मे खलो की निन्दा और सज्जनो की प्रशसा का प्रसग भी सन्निविष्ट है। महाकाव्य के अन्य छोटे-मोटे लक्षण भी इसी भाति मानस पर घटित हो सकते हैं।

इस प्रकार मानस महाकाव्य के प्राय सभी लक्षणो से सम्पन्न है। गोस्वामी ने इस महाकाव्य मे ऐसी विशेषताए भी सन्निविष्ट की हैं जो उनके जीवनोन्नायक व्यक्तित्व, अलौकिक प्रतिभा एव मानवीय उच्च आदर्शों मे अखण्ड आस्था के रुचिर परिणामस्वरूप हैं। अधिकाश सस्कृत महाकाव्य-प्रणेताओ की रुचि जहा पाण्डित्य-प्रदर्शनोन्मुख होने के कारण शब्दाडम्बर-स्फीत अलोकसामान्य वाक्यसरणि ग्रहण करने और जन-सामान्य के जीवन-यात्रा-चित्रण से दूर रही वहा लोकोपकारक तुलसी की रुचि सर्वसाधारण के जीवन की व्यापक भूमि पर स्थिर होकर सामान्य वाक्य-शैली के द्वारा भी उत्कृष्ट चरित अथवा भाव की अभिव्यक्ति मे रमी। अपने उद्वेग जनक युग को प्रतिबिम्बित करते हुए तत्कालीन सघर्षों के प्रशमन की युक्ति निकालने तथा साम्प्रदायिक समन्वय करने का जैसा कुशल प्रयत्न तुलसी ने अपने महाकाव्य मे किया है वैसा केवल आकार-प्रकार और सर्ग्य-वर्णन आदि का अनुपालन करने वाले सस्कृत के अधिकाश महाकाव्य रचयिताओ से नही हो पाया। पात्रो के चरित्राकन मे भी गोस्वामी ने अपनी मौलिक दृष्टि रखी है। यह नही किया है

कि लक्षण ग्रन्थो मे गिनाए हुए गुणो का रग भरकर नायक का ढाचा खडा कर दिया हो या किसी प्रमुख पात्र का चरित्र अविकसित, कृत्रिम अथवा असुन्दर बना दिया हो। मनोवैज्ञानिक रीति से चरित्रगत विशेषताओ का उद्घाटन करते हुए पात्रो का जैसा सहज स्वभाव तुलसी ने दर्शाया है वैसा सस्कृत के कुछ ही महाकाव्यो मे मिल सकता है। राम के चरित्र मे नरत्व और नारायणत्व के अपूर्व सामजस्य की प्रतिष्ठा के द्वारा तुलसी ने भक्ति का जो अनन्य आलम्बन खडा किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति और भ्रातृत्व का जैसा मणि-काचन-सयोग भरत के चरित्र से प्रतिष्ठित किया गया है वैसा सर्वत्र सुलभ नही। वर्णनो, घटनाओं और भावो का जब सुषम अनुपात मे समन्वय रहता है तो महाकाव्य की श्री और ही प्रकार की होती है। आदिकाव्यो को छोडकर जब हम सस्कृत के अन्य महाकाव्यो की ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक प्रकार से विकलाग-से प्रतीत होते हैं। उनमे घटनात्मकता का ह्रास और वर्णनात्मकता का प्राधान्य स्पष्टत प्रकट होता है। वृहत्त्रयी मे प्रधान 'नैषधीय चरित' म वर्णनो का बाहुल्य ही तो है। घटनाए तो नाममात्र की ही हैं। तुलसी ने सस्कृत महाकाव्या की रूढिगत परिपाटी की नकल नही की, प्रत्युत उन्होने अपने महाकाव्य मे घटनाओ, वर्णनो और भावों की बडी ही अनुगुण योजना की है।

गोस्वामी के महाकाव्य को पाश्चात्य 'एपिक' के चश्मे से देखकर भी श्लाघ्य ही कहना होगा। 'एपिक' के दोना भेदो—अर्थात् 'आथेंटिक एपिक' तथा 'लिटरेरी एपिक' की विशेषताए 'मानस' मे वर्तमान हैं। तभी तो इसमे श्रोताओं को सगीत-लहरी का अमित आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही सहृदयों को साहित्य का। एपिक की आधारशिला कोई आख्यान होता है जिसका कथन तो अपूर्व और उदात्त रूप मे रहता ही है, साथ ही स्वय उस आख्यान अथवा उसकी कथन-प्रणाली मे विलक्षण सारगर्भितता भी अवश्य रहती है। इस दृष्टि से भी मानस पूर्ण है क्योकि भक्त कवि की यह अपूर्व कला है जो उसने इस चरित्र-काव्य

मे भी अपने प्रधान प्रतिपाद्य भक्ति को इस प्रकार सन्निविष्ट किया है कि वह चरित-प्रवाह के साथ-साथ सरस्वती की लुप्त धारा के समान अप्रतिहतगति चलती है और अन्त मे वह पीयूष-निष्यन्द प्रसूत करती है जो सहसा सतृष्ण भक्त-हृदय को परम आप्यायित तथा तृप्त कर देता है। एपिक की अगभूत और छोटी-मोटी बातो के अतिरिक्त उसमे निरययातना और कुछ अतिप्राकृत उपादानो का सन्निवेश भी रहता है, क्योंकि ये दोनो तत्त्व महाकाव्य की कार्यगति मे व्यापकता लाते है। एपिक मे अमर्त्यों की अवतारणा भी होती है। वे अपनी वाणी और कार्य से प्रबन्ध मे वर्णित कार्यधारा का महत्त्व ससार को दिखाते रहते है। वस्तुत महाकवि मनुष्य और मनुष्य के सासारिक प्रयोजन अथवा लक्ष्य का गान करता है, देवो के लक्ष्य का नही। देवगण मनुष्य के नियति-पथ को प्रकाशित करते हैं अवश्य, पर उनके इस सुन्दर प्रकाशन को परिधि के भीतर ही रखना चाहिए। प्रबन्ध-काव्य किसी विशेष प्रकार की जीवन-धारा की अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक ढग से करता है। इन विशेषताओ को भी यदि हम मानस मे देखना चाहे तो हमे निराश नही होना पडेगा। यही नही, हम सिर उठाकर यह भी कह सकते है कि तुलसी के महाकाव्य मे जैसी आदर्श और उन्नायक चरित-कल्पना है वैसी न मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' म है न स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन' मे और न दान्ते की 'डिवाइना कमेडिया' मे। साम्प्रदायिक और सास्कृतिक समन्वय की जो जटिल समस्या तुलसी के सामने थी वह इन पाश्चात्य 'सैक्रेड एपिक्स' के रचयिताओ के समक्ष नही थी। लोक-सग्रह की तीव्र भावना से ओत-प्रोत होने के कारण तुलसी का महाकाव्य लोक-जीवन को पूर्णतया ग्रहण किए हुए है पर दान्ते या मिल्टन आदि के महाकाव्य की रगस्थली तो इतर लोक म है। मानस और भी कितनी ही विशेषताओ से युक्त है, पर उन सबको छोडकर अब हम दो चार शब्दो मे यह सकेत करना चाहते हैं कि गोस्वामी का खण्डकाव्य-रचना पर भी विशेष अधिकार था।

खण्डकाव्य महाकाव्य की भांति प्रबन्धकाव्य ही है। इसीलिए खण्ड-काव्य में महाकाव्य के वर्णनीयों में से कुछ ही सन्निविष्ट किए जाते हैं। खण्डकाव्य में किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक-खण्ड को वर्णनीय बना सकते हैं। खण्डकाव्य का आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती है और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता है, पर महाकाव्य में महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। खण्डकाव्यान्तर्गत गोस्वामी की ये कृतियां परिगणनीय हैं—रामलला नहछू, पार्वती मंगल और जानकी मंगल। नहछू उपवीत के अवसर पर गाया जाने वाला गार्हस्थ्य-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी गीत है। इसमें अयोध्या में होने वाला राम के पैर के नखों के कर्तन का पूर्वांग-भूत कृत्य बड़े ही रंजक ढंग से वर्णित है। पार्वती मंगल में पार्वती के विवाह का वर्णन मात्र है, जिसमें महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' से भी सहायता ली गई है, कुछ छंद तो छायानुवाद के रूप में ही रखे गए हैं। जानकीमंगल में सीता के विवाह का वैसा ही वर्णन है जैसे पार्वती मंगल में पार्वती के विवाह का। इन तीनों में कवि ने तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवन की बड़ी ही सटीक और सुन्दर झांकी करा दी है। ये तीनों ही पूरवी अवधी में लिखे गए हैं, भाषा बड़ी ही मधुर और ठेठ रूप में प्रयुक्त है।

श्रव्यकाव्य के त्रिविध स्वरूपों अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य और महाकाव्य पर विशेषाधिकार रखने के परिणामस्वरूप गोस्वामी ने अपने जिस साहित्य का सर्जन किया उसमें प्रयुक्त भाषा पर उनका आधिपत्य भी विचारणीय है। अवधी में निर्मित रामचरितमानस तथा ब्रजभाषा में रचित गीतावली, कवितावली, दोहावली, विनयपत्रिका प्रभृति कृतियों की भाषा का मर्म भली भांति समझ लेने पर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि इनके द्वारा उन्हें मध्यकालीन भारत की एक ऐसी भाषा का प्रस्थापन अभीष्ट था जो समस्त उत्तरापथ की राष्ट्रभाषा हो सके। यदि उनका यह व्यापक उद्देश्य न होता तो जायसी की भांति वे भी अपने महाग्रन्थ को कोरी प्रान्तीय ठेठ अवधी के संकीर्ण कठघरे में

वन्द करके रखते, ब्रजभाषा वाली कृतियो को एकमात्र ऐसी विशुद्ध, चलती और टकसाली ब्रजभाषा मे ढालते कि रसखान और घनानन्द भी चौंधिया जाने। वस्तुत गोस्वामी ने अवधी और ब्रज दोनो के बाह्य रूप और उनकी सूक्ष्म अपरिहार्य प्रवृत्तियो की यथासभव रक्षा करते हुए उन्हे राष्ट्र-भाषा के उपकरणो से सम्पन्न करने का सफल प्रयास किया है। उन्होने दोनो भाषाओ को प्रशस्त करने और स्थायित्व देने के लिए उनका सम्बन्ध मूल प्राचीन आर्य-भाषाओ से अविच्छिन्न रखकर हिन्दी की परपरा का पालन एक ओर किया और दूसरी ओर अपने समकालीन समाज के अन्तर्गत विकसित और प्रचलित जन-सामान्य की विभाषाए और बोलियो तक मे ही नही, अपितु अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओ के अनेकानेक पदजात भी ग्रहण करके दोनो भाषाओ को अधिक से अधिक व्यापक और सर्व-जनमान्य स्वरूप देने का प्रयत्न किया।

भाषा पर आधिपत्य

प्राचीन आर्य-भाषाओ म से सस्कृत को वे कैसा महत्त्व देते थे इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि मानस के श्लोक, स्तुतियो के छन्द और कही-कही चौपाइयो की मालाए भी सस्कृत के तत्सम शब्दो और विशेषण सस्कृतमय श्रुति से शोभित और स्वरित होती है। विनय-पत्रिका मे शिव और राम-स्तुति-सम्बन्धी अनेकानेक पदो मे भी सस्कृत-पदावली का प्राचुर्य है। सामान्यत भी उनकी ऐसी कोई कृति नही है जिसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो का अभाव कहा जा सके। गोस्वामी की सस्कृत पदावली ऐसी नही है कि उसम रचमात्र भी कृत्रिमता की गध हो या पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए पदजात भरती किए गए हो, प्रत्युत ऐसा प्रकट होता है कि सस्कृत के शब्द प्रकृतित अपन उचित स्थान पर स्वय आकर जम गए हैं, अपरिवृत्तिसह हो गए है। यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामी के समय की हिन्दी, विभाषाए और बोलियाँ तक म सस्कृत अनेकानेक शब्द प्रतिष्ठित हो गए थ, अत यह अनिवार्य था कि

वे प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग बराबर करते जैसा कि उन्होंने यथेष्ट परिमाण में किया भी है, इसके अतिरिक्त वे केवल संस्कृत में ही चलने वाली पदावली से भी अपनी दोनों भाषाओं के अंगों को विभूषित करने में नहीं हिचके हैं।

इस प्रकार गोस्वामी की हिन्दी में संस्कृत का समन्वय देखकर हम कह सकते हैं कि वे संस्कृत भाषा-कोविद भी थे। पर मेरा यह कथन उन व्याकरण-शास्त्रियों को खलेगा जिन्होंने अपने इधर-उधर के लेखों में यह दिखाने का प्रयास किया है कि तुलसी ने संस्कृत भाषा की अल्पज्ञता के कारण ही व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग किए हैं। हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग उन्होंने साभिप्राय किया है। इनके द्वारा एक ओर तो उन्होंने अपनी भाषा को शिष्ट स्वरूप दिया और उसे महत्तम और उन्नततम भावों का वाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हें देश भाषा के संयत और मनोरम साँचे में ढालकर चलनसार और टकसाली रूप दे दिया। उनकी यह भाषा-निर्माण की कला अपूर्व है। जिस कारीगरी से उन्होंने संस्कृत शब्दों को देसी रूप दिया, संस्कृत की जमीन पर पहले प्रान्तीय भाषा का रंग चढ़ाया और फिर हिन्दी प्रत्ययों और विभक्तियों के बूटे जड़कर हिन्दी धातुओं की गोट लगाई वह सारी मोहक और प्रांजल छटा उन्हीं का निर्माण है। हमारी मातृभाषा ने उनसे अर्पण किया यह परिधान बड़े गौरव के साथ धारण किया है।

संस्कृत के अनन्तर अब प्राचीन आर्य-भाषाओं में शौरसेनी और अर्द्ध-मागधी प्राकृतों के नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्रथम से व्रजभाषा तथा उसकी बुन्देलखण्डी आदि विभाषाएं और द्वितीय से अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि उद्भूत हुई हैं। गोस्वामी उक्त दोनों प्राकृतों और अपनी दोनों भाषाओं के सन्निकट सम्बन्ध से पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने दोनों प्राकृतों की कुछ विशेषताओं का समावेश अपनी दोनों भाषाओं में किया है।

तुलसी ने जैसे संस्कृत के अक्षय भण्डार से तत्सम शब्दों की वृहद्

विभूति ग्रहण करके अपने काव्य मे विशिष्ट चारुता की स्थापना की वैसे ही उन्होंने प्राकृत के क्षेत्र से होकर आने वाले तद्भव शब्दो के अपरिमित ऐश्वर्य के द्वारा भी अपनी रचनाओ मे अपूर्वता और स्वाभाविकता की अनुपमेय सृष्टि की है। उनके तद्भव शब्दो के प्रयोग के सबन्ध मे इस भ्रम मे नही पडना चाहिए कि उन्होंने सस्कृत के तत्सम शब्दो को प्राकृत के व्याकरण के अनुसार गढकर उनका प्रयोग किया है, प्रत्युत उन्होने उन्ही तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है जो प्राकृत से होकर आए और प्रकृतित जन-सामान्य की बोलियो मे प्रचलित रहे। यथा, सस्कृत का 'सूपकार' प्राकृत मे 'सूअआर' हुआ। तुलसी की कुछ कृतियो मे प्रयुक्त 'सूआर' देखकर हमे भ्रम हो सकता है कि बाबाजी ने इस तद्भव शब्द को प्राकृत के अनुसार गढकर रख दिया है, पर नही, जब बघेली मे हम आए दिन भी लोगो के बीच 'सूआर' महाशयको देखते है तो हमे तुरन्त अपनी भूल मान लेनी पडती है।

वर्तमान खडी बोली का प्रादुर्भाव गोस्वामी के बहुत पहले हो चुका था, जैसा कि अमीर खुसरो की पहेलिया से अनुमान किया जा सकता है। खुसरो ने 'खालिकबारी' मे 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' दोनो नामो का उल्लेख किया भी है। तुलसी के समय तक इस हिन्दी का प्रचलन भी जन-सामान्य तक किसी न किसी अश तक अवश्य पहुच गया था, अन्यथा गोस्वामी अपनी रचनाओ मे खडी बोली के ऐसे प्रयोग न करते।

तुलसी-युग के कई शतक पूर्व से ही मुसलमानो ने देश पर अपना सिक्का जमा लिया था। उसके परिणामस्वरूप विविध प्रतिक्रियाओ मे से एक यह भी थी कि सभी मध्यकालीन आर्य-भाषाए, विभाषाए और बोलिया तब भी अरबी, फारसी से अछूती न रह सकी। दरबार से सम्पर्क रखने वालो का तो कहना ही क्या, जनता ने भी न जाने कितने अरबी, फारसी के शब्द अपना लिए और वे सब जनसामान्य की भाषा मे घुल-मिल गए। उनका अरबीपन और फारसीपन उड गया। अपने

युग की सार्वजनिक भाषा के मर्मज्ञ तुलसी भला जन-सामान्य में प्रचलित अरबी, फारसी के शब्दों की उपेक्षा कब कर सकते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में उक्त भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रचुर प्रयोग पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ किया। यह अवश्य है कि इनमें अधिकांश ऐसे ही पदजात हैं जिन्हें एक भाषा दूसरी भाषा से स्वभावतः ग्रहण करती है, भाषा के नाम तथा विशेषण आदि को अपनाती है।

अरबी-फारसी का यदि वर्गीकरण किया जाए तो इस प्रकार हो सकता है (क) विदेश से आई प्रचलित वस्तुओं के नाम, (ख) सैनिक-क्षेत्र से सम्बद्ध, (ग) न्यायालय से सम्बद्ध, (घ) सामन्त-वर्ग के व्यक्तियों के द्योतक, (ङ) गाली या अपकृष्टता-द्योतक तथा (च) भद्र जन-समुदाय के द्वारा गृहीत विविध शब्द।

गोस्वामी ने अरबी-फारसी से गृहीत शब्दों में अपनी भाषा अवधी तथा ब्रजभाषा के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन आदि भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया है। उन्होंने 'शरीक' को प्रचलित समझकर अपनाया पर उससे भाववाचक संज्ञा बनाने में हिन्दी व्याकरण का प्रयोग किया और 'सरीकता' लिखा न कि 'शिरकत'। इसी प्रकार 'मिस्कीन' से 'मिसकीनता' ही बनाना उचित समझा। अपनी ही भाषा की ध्वनि और व्याकरण के आधार पर उन्होंने फारसी के 'साज', को 'साज', 'साजा', 'साजो', 'साजू', 'साजे', 'कुसाज', 'सुसाज', 'साजक' आदि सभी रूपों में विकसित कर दिया है। यदि 'निवाज' जनता के बीच 'नेवाज' रूप में रहा तो उन्होंने ढंग भी अपनी आवश्यकता के अनुसार 'निवाज', 'निवाजा', 'निवाजी, निवाजू', 'निवाजे' ही नहीं, अपितु ब्रजभाषा की क्रिया 'निवाजिबो' रूप में भी चला दिया।

नाम और विशेषण जब क्रियावाचक बना दिए जाते हैं तब उन्हें नामधातु कहते हैं। नामधातु-निर्माण की शक्ति चलती भाषा का व्यापक जीवन है। इसकी कमी के कारण ही वर्तमान खड़ी बोली बहुत-से

व्यापारो के अभिव्यञ्जन मे ऐसा द्राविड प्राणायाम करती है जो बहुत ही अस्वाभाविक जान पडता है। गोस्वामी की रचनाओ मे नामधातु के प्रयोग भी मिलते हैं। विस्तार न करके हम दो ही तीन उदाहरणो मे उसकी झलक दिखा देना पर्याप्त समझते हैं। जैसे, नीचे के अवतरणो मे रेखांकित पद—

हथवासहु बोरहु तरनि कीजिय घाटारोहु।

—रामचरितमानस, अयोध्याकाड

किसी कवि के अपरिमित शब्द-भण्डार मे केवल भाषा, विभाषा और बोलियो के नाना शब्दो को देखकर ही उसे सफल भाषा-नायक नही कहा जा सकता। वस्तुत शब्दो पर विशेषाधिकार तभी प्रकट होता है जब व वाक्य मे प्रयुक्त होकर अपरिवृतिसह रूप से जगमगाते हैं, कवि के अभिप्रेत अर्थ को यथावत् द्योतित करते हैं और स्वत पाठक को चिर-परिचित-से जान पडते है। गोस्वामी की रुचिर वाक्य-रचना ऐसी ही प्रभूत शब्दावली से हुई है। उनकी सारी कृतिया यही प्रमाणित करती हैं। उनके अद्वितीय सुव्यवस्थित वाक्य-रचना कौशल पर मुग्ध होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ही ठीक कहा है, "और कवियो के साथ तो तुलसी का मिलान ही क्या। वाक्यदोष हिन्दी म भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगो को रहा। सूरदास भी इस बात मे तुलसी से बहुत दूर है।"

यदि कोई किसी बोलचाल की भाषा का माधुर्य देखना चाहे तो उसे उसके मुहावरो की रत्नपिटारी का भी सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए, क्योकि बोलचाल की भाषा का सम्पूर्ण माधुर्य और सजीवता मुहावरे मे ही आती है। मुहावरे का सौन्दय चलती और स्वाभाविक भाषा म ही मिलता है। कृत्रिम भाषा के मेल म तो वह विरूप-सा हो जाता है। तुलसी की भाषा और मुहावरा म मणि-काञ्चन का सयोग है। एक नही, सैकडो मुहावरो के प्रयोग हुए हैं, पर मजाल नही कि कही वे रत्तीमात्र भी विरूप लगते हो। उनके मुहावरो के प्रयोग से उनके

कथन में सुषमा ही नहीं आई है, अपितु उनका व्यवहार-कौशल, उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति एवं प्रयोग-नैपुण्य भी दीप्त हो उठा है। उनकी सभी रचनाओं में प्रयुक्त समस्त मुहावरों की सूची देकर उनकी व्याख्या करते हुए प्रयोग की मनोहरता दिखाने के लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जा सकती है।

समाज अपने चिरन्तन व्यवहारों और अनुभवों में से कितनों को ही विशेष आवश्यक और मार्मिक समझकर अपनी चलती भाषा में लोकोक्तियों के रूप में सुरक्षित रखता है। जिस कवि का सामाजिक, व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा-चढ़ा रहता है और जो जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा में पारंगत रहता है वह समाज में प्रचलित लोकोक्तियों की भी पूरी जानकारी रखता है। लोकोक्ति के प्रयोग में चारुता तभी दृष्टिगत होती है जब वह स्वाभाविक और चलती भाषा में नगों की भांति जड़ी रहती है। कृत्रिम भाषा में वह भी बेमेल ही लगती है। गोस्वामी के द्वारा किए गए लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग उनकी भाषा की स्वाभाविकता और मनोहरता ही बढ़ाते हैं।

सच्चे महाकवि की भांति गोस्वामी अपने सामयिक जन सामान्य की भाषा से पूर्णतया अभिज्ञ थे और उसकी प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध भाषाओं का भी उन्हें परिज्ञान था। उनकी भाषा व्यापक और उनका शब्द-भण्डार अपरिमेय था। स्थानाभाव के कारण आगे हम उनकी दोनों भाषाओं का वैशिष्ट्य आदि न दिखाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांस्कृतिक समन्वय के अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने युग की दोनों प्रधान भाषाओं की परिधि को वृहद् करके उनमें यथासम्भव निकटता और सामञ्जस्य स्थापन का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया। दोनों भाषाओं को अपना-अपना रूप सवारने और संकीर्णता छोड़ने के निमित्त उनमें परस्पर स्पृहणीय आदान-प्रदान कराया। इसीसे उनकी उत्कृष्ट ब्रजभाषा की रचनाओं में जैसे पूरबी प्रयोग भरे पड़े हैं

आदृत हुए हैं वैसे ही अवधी की सर्वोत्कृष्ट कृति मानस मे ब्रजभाषा, उसकी विभाषा और बोलियो तक के शब्द सत्कृत किए गए हैं। ऐसा करके भी उन्होने दोनो भाषाओ की मौलिक सत्ता पर, उनकी एकरूपता पर किसी प्रकार का कुठाराघात नही किया है, यह भी हमे न भूलना चाहिए।

छन्द-विधान

छन्दो के नियमानुसार मात्रा, गण, वर्ण अथवा गुरु-लघु की योजना मात्र करके छन्द विधान कर लेना कोई विशेष महत्त्व की बात नही है। ऐसा तो रीति-ग्रन्थो का सामान्य ज्ञाता भी कर सकता है। महान् कलाकार के छन्द-विधान मे केवल छन्द-विधान के नियमो की पाबन्दी ही नही रहती, अपितु उनमे प्रसगानुकूल लय और ताल भी निनादित होते रहते हैं। जैसे कोयल की काकली मे, निर्झर के नाद म प्राकृतिक सगीत स्वयमेव कर्णगोचर होता है वैसे ही उच्च कलाकार विरचित छन्दो मे भावानुरूप नैसर्गिक ध्वनि होती है। गोस्वामी ऐसे ही उदात्त छन्द-विधायक महाकवि थे। मानस मे उन्होने जिन विविध प्रकार के छन्दो पर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अनूठा प्रयोग किया, वह देखने योग्य है। प्रस्तुत प्रसग मे मानस के अतिरिक्त अन्यान्य कृतियो मे प्रयुक्त छन्दो का सकेतमात्र आवश्यक है। कवितावली सबाहुक म कई प्रकार के सवैये, मनहरण, मनहर, घनाक्षरी, छप्पय तथा झूलना छन्दो का प्रयोग हुआ है, दोनो मगलो की रचनाए मात्रिक अरुण और हरिगीतिका म हैं, बरवैरामायण का छन्द उसके नाम से ही स्पष्ट है, इसी प्रकार, दोहावली का भी, पर दोहावली म सोरठा भी है, रामाज्ञाप्रश्न तो पूर्णतया दोहा छन्द मे ही है, रामललानहछू की रचना सोहर छन्द मे है और वैराग्यसन्दीपिनी मे वैराग्य का निरूपण दोहा, सोरठा तथा चौपाई मे हुआ है। गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली एव विनयपत्रिका के छन्द विधान के विषय मे कुछ कहना ही नही। इन ग्रन्थो मे सन्निविष्ट

पदों का वास्तविक मर्म विविध राग-रागिनियों का विशेषज्ञ सहृदय ही पा सकता है, पर इन तीनों कृतियों के छन्दों के द्वारा काव्य और संगीत का समन्वय तथा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझाने में किसी विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं। गोस्वामी ने गीतावली[1] तथा विनयपत्रिका[2] में दो विभिन्न प्रकार के छन्दों की संसृष्टि कर एक तीसरे प्रकार का नया छन्द बनाने की स्वतन्त्र रुचि दिखाई है। गीतावली में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरणों में दो मात्राएं बढ़ाकर[3] तथा विनयपत्रिका में दो मात्राएं घटाकर[4] नये ढंग के छन्द भी निर्मित किए गए हैं।

काव्य-सौष्ठव के अभिवृद्धिकारक विविध उपादानों और साहित्य-शास्त्रसम्मत प्रतिमानों का उपयोग तुलसी ने किस अंश तक किया है, यह भी विचारणीय है। हमारे साहित्यशास्त्र के विकासात्मक इतिहास से अवगत होता है कि काव्य के सम्बन्ध में बड़े-बड़े आलंकारिकों ने अपने-अपने भिन्न-भिन्न मतों का समर्थन किया। फलतः अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत भरत मुनि का रस मत, भामह और उद्भट के अलंकार मत, वामन के रीति मत (गुण मत), कुन्तक के वक्रोक्ति मत और आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि मत प्रभृति नाना मतों की प्रतिष्ठा हुई। तुलसी-से चूड़ान्त महाकवि की मति उक्त सभी प्रधान आलंकारिकों के मतों का मन्थन कर चुकी थी। तभी तो उन्होंने अपने उत्कृष्ट काव्य में यथोचित रीति से इन सबका समावेश किया है। अपने अपूर्व ग्रन्थ मानस के उपक्रम में उन्होंने काव्य की प्रतिष्ठा और परीक्षा के लिए ही प्रकारान्तर से उसके हेतु, उसका लक्षण, उसके प्रयोजन और उसकी संवेदनीयता आदि का संकेत भी किया है।

शब्दालंकार का काव्य में विशेष प्रयोग उसके महत्त्व को कम करने

---

१ गीतावली, अरण्य० पद गत १७, उत्तर० १६

२ विनयपत्रिका पद १३५, १३६

३ गीतावली, बा० १६

४ विनयपत्रिका, पद १०७—१०६

वाला होता है। तुलसीदास गम्भीर प्रकृति के थे। उन्होने यमकादि शब्दालंकार पर विशेष दृष्टि नही रखी, स्वाभाविक रीति से ही ये अलकार आ गए हैं। रहे अर्थालकार, उनमे से कादाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कवि की रचनाओ मे न मिले। सभी प्रकारो का एक-एक उदाहरण देने के लिए भी प्रस्तुत प्रवन्ध मे अवकाश नही। अत संक्षेप मे, सुभीते के साथ विचार करने के लिए हम विद्याधर, विद्यानाथ प्रभृति आलकारिको के द्वारा किए गए अलकारो के वर्गीकरण को ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक वर्ग के कुछ ही अलकारो के उदाहरण देंगे।

साधर्म्यमूलक अलकारो को देखने से पता चलता है कि उनमे से कुछ तो अभेद-प्रधान, कुछ भेद प्रधान और कुछ भेदाभेद-प्रधान होते हैं। अभेद-प्रधान के अन्तर्गत रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति आते हैं, भेद-प्रधान मे दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, अधिक, अल्प परिगणनीय हैं और भेदाभेद-प्रधान अलकारो मे उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण गिनाए जा सकते हैं।

गोस्वामी ने रूपक अलकार पर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियो मे पग-पग पर किया है। छोटे-छोटे निरग और परम्परित रूपको का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बेजोड साग रूपक के भी एक से एक बढकर उदाहरण मानस, गीतावली, विनयपत्रिका प्रभृति प्रधान कृतियो मे जगमगाते हैं। उन्होने अपने इन लम्बे-लम्बे साग रूपको मे भी मजाल नही है कि सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखाई हो। उन्होंने ऐसे रूपको की योजना सामान्यतया गम्भीर विषयो को सरस एव सरल रीति से हृदयगम कराने के लिए ही की है और उसमे पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानो और अप्रस्तुतो की क्षुद्र परिधि मे ही नही बधे रहते, अपितु वे विशेषाश मे अपनी सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति के सहारे प्रकृति के

व्यापारों से ही ऐसे अप्रस्तुतों का चयन करते हैं कि उनसे रूपक में प्रभावादि के अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है। अत्यन्त संक्षेप में यही उनके रूपकों की विशेषताएं हैं।

गोस्वामी की अलंकार-योजना के विविध उदाहरणों को देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने इन्हें कहीं भावोत्कर्ष का सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया आदि की तीव्र अनुभूति को सजग कराने का साधन। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है। तुलसी का अलंकार-विधान उनकी साधुता से अछूता नहीं रह पाया है। इसीसे उनकी अलंकार-योजना प्राय. उपदेश-समन्वित ही मिलती है।

तुलसी के काव्योद्यान में सौन्दर्य के जो कमनीय कुसुम विकसित हुए हैं उनके सुभग सौरभ्य की अनुभूति के लिए पहले सौन्दर्य पर कुछ सामान्य विचार कर लेना चाहिए। इस सामान्य विचार से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मैं पाश्चात्य पचासों सौन्दर्य-विज्ञानियों के सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों (ईस्थेटिक थ्योरीज़) का गोरखधन्धा फैलाऊं और सौन्दर्य का आध्यात्मिक रहस्य बताऊं। ऐसा न करने पर भी सौन्दर्य का स्वरूप-निर्देश तो करना ही होगा। जैसे हम चन्द्रिका की कल्पना बिना चन्द्र के नहीं कर सकते वैसे ही बिना सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य की कल्पना करना असम्भव है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है। जड़ अथवा चेतन जगत् की कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिनके साक्षात्कारमात्र से हमारा मन उनमें ऐसा रम जाता है कि हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी भी होती हैं जिनकी प्रतीति या भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से

तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जाएगी.......किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप मे जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढी हुई सौन्दर्य की अनुभूति कही जाएगी। जिस प्रकार की रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास से किसीकी तदाकार परिणति होती है उसी प्रकार की रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुची हुई जातियो मे सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद केवल अनुभूति की मात्रा मे पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एक बारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर।

उपर्युक्त उद्धरण एक प्रकार से सौन्दर्यानुभूति का स्पष्टीकरण कर देता है, पर सौन्दर्य का वह विस्तृत स्वरूप जिसे हम तुलसी की रचनाओं मे इगित करना चाहते हैं पूर्ण रूप से प्रकाशित करने लिए सौन्दर्य का वर्गीकरण करना अधिक सुन्दर होगा। हम कह चुके हैं कि सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई अन्य पदार्थ नही है। अत सुन्दर वस्तुओ के आधार पर सौन्दर्य के दो वर्ग होगे, (१) प्रकृति-सौन्दर्य, (२) प्राणि-सौन्दर्य।

सौन्दर्य के इन द्विविध क्षेत्रो पर दृष्टि डालते ही दोनो के भेद प्रतीत होंगे। प्रकृति-सौन्दर्य के अन्तर्गत। (१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य आदि और प्राणि-सौन्दर्य मे (१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य, (४) व्यवहार-सौन्दर्य, (५) शील-सौन्दर्य आदि।

निस्सदेह मनुष्य चेतनामय प्राणी होने के कारण चेतनजगत् के सौंदर्य का विशेष रसज्ञ होता है, पर यह भी निश्चित है कि वह जड प्रकृति के विविध विलासो पर भी मुग्ध रहता है। उसका हृदय कही पल्लव-गुम्फित पुष्प-हास मे, कही निर्झरो के कलकल नाद मे, कही पक्षियो की काकली मे, कही सिन्दूराभ सान्ध्य दिगचल के हिरण्य मेखला-मण्डित घनखण्ड मे,

कहीं तुषारावृत तुंगशिखर गिरि पर पड़ी आभा से निर्मित इन्द्रधनुष में, कहीं सघन और स्निग्ध हरीतिमा से आच्छन्न अछोर मैदानों में लहलहाते हुए खेतों में, तो कहीं महार्णव की उत्ताल तरंगों में जा फंसता है। क्यों? उत्तर है—प्रकृति-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर। इसी प्रकार प्राणि-सौंदर्य भी उसे केवल आकर्षित ही नहीं करता, अनुभूति-साम्य, रुचि-साम्य, विवेक-साम्य और भाव-समष्टि-साम्य से आप्यायित भी करता है।

डॉ० विमलकुमार

६

तुलसी का समन्वयवाद

तुलसी एक समन्वयवादी कवि थे। भक्ति-काल के प्रारम्भ होने मे भी मूल कारण यही था कि हिन्दू मुस्लिम भावनाओ का यथासम्भव समन्वय किया जाए जिससे पारस्परिक विरोध का ह्रास हो। कबीर आदि के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की आराधना, तीर्थ-स्थान आदि का खण्डन एव अन्य आडम्बरपूर्ण एव विरुद्ध भावोद्भावक बाह्याचारो का विरोध आदि बातो का प्रचार इसीलिए हुआ था कि विरोध का नाश हो और समन्वय का प्रसार हो। परतु तुलसीदास के अतिरिक्त इस काल के जिन सत कवियो ने सामञ्जस्यपरक वातावरण की उद्भावना का स्वप्न देखा और उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया, वे कुछ अभिनिवेशवश भावावेश मे बह गए और 'यह ऐसा ही है' के पक्षपातपूर्ण विचार से अभिभूत रहे। तुलसीदास महान् उदार पडित, तत्त्ववेत्ता, कालज्ञ और व्युत्पन्नमति थे। उन्होंने प्राय निखिल विचारधाराओ का जिस विलक्षणता और विचक्षणता से समन्वय किया है, वह दर्शनीय है। ज्ञानमार्गी सन्तो की भाति न वे कटु हुए हैं और न प्रेममार्गी सन्तो की भाति मौन। उन्होने प्रायः सभी विरोधपूर्ण भावनाओ का अध्ययन किया और यथासम्भव उनका समन्वय किया। उन्होंने न किसीकी भर्त्सना की है, न किसीको तर्जना दी है और न उनमे अनुनयपूर्ण अर्चना ही है। उनका समन्वय तर्क, प्रमाण, युक्ति और इनमे भी बढकर विश्वास पर आश्रित है। इस

समन्वय के लिए उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक, आचार-विचार सम्बन्धी एव भाषा-विषयक किसी भी क्षेत्र को नही छोड़ा।

तुलसीदास जिस समय हुए, उस समय मुगल-सम्राट् अकबर एव जहागीर का शासन-काल था। ये दोनो ही बादशाह उदार थे, मुसलमान होते हुए भी ये मुख्यत हिन्दू-विरोधी नही थे। अकबर के अन्त पुर मे हिन्दू रानिया थी, सलीम (जहागीर) स्वय हिन्दू रानी की सन्तान था। हा, इनसे पूर्व अन्य सुलतान वशो के शासन मे हिन्दुओं पर पर्याप्त अत्याचार हो चुका था और इनके समय मे भी अन्य मुस्लिम सूबेदार एव अधिकारी अत्याचार करते ही थे। यद्यपि इन सम्राटो ने हिंदुओ को उच्च पद दिए थे, जजिया भी न लिया था तथा धार्मिक सरक्षण भी दिया था तथापि यत्र-तत्र धर्मस्थानो की भ्रष्टता, नर-नारियो का अपमान, गौओ का वध और पापाचारो का पोषण आदि अनाचारपूर्ण बातें होती ही थी। इनके अतिरिक्त हिंदुओ मे भी अनेक सामाजिक रीतिया ऐसी थीं, जो पारस्परिक या मुसलमानो से विरोध का कारण थी। ज्ञान, भक्ति एव कर्म का विरोध भी चल ही रहा था, शैव और वैष्णवो का विरोध भी पराकाष्ठा पर था तथा वर्ण-विभेद भी कलह का कारण बना हुआ था। तुलसीदास ने इन बातो का प्रत्यक्षत- परिचय प्राप्त किया और अपनी दूरदर्शिनी अतर्दृष्टि से समुचित समाधान कर उसे भाषाबद्ध कर डाला। अपनी प्रखर एव निर्मल मेधा की शान पर चढाकर उसे ऐसा रूप दिया कि जिधर से देखो उधर से ही और जो देखे उसे ही वह सम एव रुचिकर दीख पडता है। उस समय भी ऐसा ही हुआ होगा।

अब हम तुलसी की समन्वय-सरणी पर एक विहगम दृष्टिपात करते हैं।

शैव-वैष्णवो भावना का समन्वय

वेदो मे एकेश्वरवाद की प्रधानता थी। उनमे एक ईश्वर ही सर्वोपरि था तथा ईश्वर के अतिरिक्त स्तुत्य अनेक अग्नि, इन्द्र, वरुण, मरुत्, रुद्र,

बृहस्पति, पूषा, यम और प्रजापति आदि देव उस ईश्वर की ही विविध शक्ति के रूप मे थे जो सृष्टि के सचालन मे तत्पर रहते थे, यथा इन्द्र शस्य का स्वामी और वरुण जल का अधिपति था।

ऋग्वेद मे लिखा है कि उसी एक ईश्वर को इन्द्रादि कहते है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदति अग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

आरण्यक एव औपनिषदिक काल मे इनमे से अनेक देवो का महत्त्व घट गया। वाह्य यज्ञादि कर्म आत्मयज्ञ मे और देव-स्तुतिया ध्यान-जपादि मे परिवर्तित हो गईं। केवल कुछ ही देवता ऐसे थे, जिनकी कुछ भिन्न रूप मे सत्ता बनी रही। यह समय कर्मकाड का न था, ज्ञान-वैराग्य का था अत रुद्र, शिव एव प्रजापति ने ब्रह्मा का रूप धारण कर लिया। इसी ब्रह्मा से सम्भवत ब्रह्म बना। इस प्रकार ये केवल ब्रह्मज्ञान के ही आलम्बन रह गए। ब्रह्म का अद्वितीय रूप उपनिषदो मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

इसके पश्चात् पौराणिक काल मे देवो का महत्त्व अत्यधिक हो गया। वैदिक काल मे देवो की ईश्वर से पृथक् सत्ता नही थी, अब वे पृथक् रूप से परिगणित होने लगे जिनम अतिमानुषी शक्ति थी, जिसके परिणामस्वरूप वे वरदान भी दे सकते थे, और वधदान भी।

इन देवो मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्ति सर्वोपरि थी। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता थे, विष्णु पालक और महेश सहर्ता। ब्रह्मा इन सब मे जरठ थे अत वे देवो के पितामह कहलाए।

विष्णु और महेश को लेकर इस काल मे दो सम्प्रदाय हुए, जिनमे से प्रत्येक अपने इष्टदेव का महत्त्व दूसरे से बढकर मानता था। जो शिव के अनुयायी थे वे शैव कहलाए और जो विष्णु के पक्षपाती थे वे वैष्णव। विष्णु वैदिक काल से इसी नाम से पुकारे जाते थे परन्तु शिव ने अनेक नाम ग्रहण किए, यथा—ऋग्वेद मे रुद्र, यजुर्वेद म ईशान और महादेव, उपनिषदो मे शिव और पुराणो म शिव, महेश, महादेव आदि।

शैव-वैष्णवों ने स्वीय आराध्यों के गुण-गानार्थ भिन्न पुराणों की रचना की। शिवपुराण आदि पुराणों में शिव को विष्णु से ऊंचा माना गया। ये कैलास पर निवास करते हैं, जहा भूत-पिशाचादि गण पहरा देते हैं। ये भवानी-पति हैं, गणेश और कार्तिकेय इनके दो पुत्र हैं। गणेश ही गणपति है। ये शिव शाश्वत है, परन्तु भक्त-जनार्थ भैरवावतार, वीरभद्रावतार और नटावतार आदि रूप में अवतरित भी होते हैं। ये सपत्नीक होते हुए भी योगिराज हैं, दिगम्बर हैं। ये भभूत रमाते हैं और जटाजूट धारण करते हैं। व्याघ्रचर्म इनका परिधान है, सर्प माला है तथा ये त्रिनेत्रधारी हैं। वृषभ इनका वाहन है।

वैष्णवों ने विष्णु को इनसे बढकर कहा। वेदों में इनका पर्याप्त महत्त्व था। ये सविता के प्रतीक थे और आहूत देवों में इनका स्थान बहुत ऊंचा था। परन्तु आरण्यक और उपनिषद-काल में इनका कोई महत्त्व न रहा। पौराणिक काल में पुन इनका महत्त्व हुआ, महाभारत एव विष्णु पुराण इसके साक्षी हैं। विष्णु का निवास-स्थान वैकुण्ठ बतलाया गया। ये भी सपत्नीक है, लक्ष्मी इनकी स्त्री का नाम है। ये हिरण्यगर्भ और नारायण हैं। इनका जागरण सृष्टि की उत्पत्ति और सोना प्रलय का कारण होता है। ये अवतार धारण करते हैं। महाभारत के समय में इनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा हुई। उस समय इनका धर्म नारायणीय धर्म से प्रसिद्ध हुआ, तदनन्तर श्रीकृष्ण के पश्चात् वासुदेवक धर्म से और पुन भागवत धर्म से प्रख्यात हुआ।

तुलसीदास ने भी उपर्युक्त देवों की सत्ता पौराणिक आधार पर ही मानी है। इन्होंने सर्वाधिक उसी रूप में विष्णु और शिव को ही महत्त्व दिया परन्तु पौराणिक विवाद को आधार बनाकर नहीं। आठवीं शताब्दी, स्वामी शंकराचार्य जी के समय, से शिवोपासना की ऐसी दुंदुभि बजी कि वैष्णव सम्प्रदाय उत्तरी भारत में नष्टप्राय-सा हो गया। पुन स्वामी रामानुजाचार्य १२वीं शताब्दी में दक्षिण से इसे उत्तरी भारत में प्रचारित करने आए। तब से यह पुनः पनपा परन्तु विरोध पर्याप्त रहा।

तुलसीदास ने भी इस विरोध को देखा और इसे समूल नष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न किया । यद्यपि वे निम्न प्रकार से राम को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से भी बढ़कर एवं उनके नियामक बतलाते हैं—

जग पेखन तुम देखनिहारे । बिधि हरि सम्भु नचावनहारे ।।

—रामचरितमानस

हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिबहि सिबता जेहि दई ।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति, मोदमय मंगल मई ।।

—विनयपत्रिका

तथापि उन्होंने शिव को पर्याप्त महत्त्व दिया । अधिकांश ग्रन्थों के आरम्भ में शिव की स्तुति की गई है । रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका जैसे महान् ग्रन्थों के प्रारम्भ में वे शिवपुत्र गणेश की ही स्तुति करते हैं पुनः शिव की स्तुति की गई है । राम-सीता की स्तुति तो इनके अनन्तर हुई है । मानस की कथा के कहने वालों में शिवजी भी हैं । पार्वती-मंगल तो उनके विवाह पर ही लिखा गया है । मानस में अनेक स्थलों पर हरि-हर की पारस्परिक प्रसंशा की गई है । बालकाण्ड में शिवजी कहते हैं—

सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।।

उधर राम भी शंकर को बड़ा महत्त्व देते हैं—

सिब द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा ।।

o o o

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ।।

इसके अतिरिक्त सीता के वियोग में राम को और राम के वियोग में सीता को क्रमशः शिव और पार्वती ढाढस बधाते हैं । शिवधनु के भंग के समय पहले राम उसे नमन करते हैं तथा लंका में जाने से पूर्व वे शिव-मूर्ति की स्थापना करते हैं ।

तुलसीदास ने मानस में याज्ञवल्क्य एवं भरद्वाज जैसे तत्त्वदर्शियों से

भी शिव स्तुति कराई है— '

सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं । रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं ॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू । राम भगत कर लच्छन एहू ॥

◇ ◇ ◇

तुम माया भगवान्, सिव, सकल जगत पितु मातु ॥

ऐसी अनेक उक्तियाँ मानस मे उपलब्ध हैं। इसी प्रकार इनके अन्य ग्रंथो में शिव का बडा महत्त्व स्थापित किया गया है। यत्र-तत्र गगा-गौरी की स्तुति से भी शिव की ही स्तुति व्यजित होती है।

अनेक स्थलो पर तो हम इन दोनो में साम्य एव अभेदरूपता देखते हैं, यथा—

हरि हर पद रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की ॥

इसमें 'मति न कुतरकी' से स्पष्ट व्यजित है कि इनमें भेद नही है।

निम्न उद्धरणो में राम और शिव की स्तुति प्राय समान शब्दो से ही की गई है—

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी । सदा एक रस सहज उदासी ॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय । अजित अमोघशक्ति करुनामय ॥
(रामस्तुति)

नमामीशमीशान निर्वाणरूप । विभु व्यापक ब्रह्म वेदस्वरूप ॥
निज निर्गुण निर्विकल्प निरीह । चिदाकाशमाकाशवास भजेऽह ॥

यह समरूपता हमें महाभारत में भी दृष्टिगोचर होती है। उसके परिशिष्ट रूप 'हरिवश' म लिखा है—

रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परम शिव ॥
एकएव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यश ॥

इस प्रकार शैव और वैष्णवो का विरोध शान्त करने के लिए तुलसी ने इनका बडी सुन्दरता से समन्वय किया।

ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय

कर्मकाण्ड का जन्म वैदिक काल से ही हुआ क्योकि वेदो मे यज्ञादि कर्मों का ही प्राधान्य है। ब्राह्मण ग्रथ तो कर्मकाण्ड के ही ग्रन्थ थे। आरण्यक और उपनिषद-काल मे ज्ञान की महत्ता रही और कर्मकाण्ड हतप्रभ हो गया। पौराणिक काल मे कर्मकाण्ड और भक्ति दोनो का प्राबल्य रहा। पुन ये तीनो ही अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिस्थापन मे सघर्ष करते रहे। इनका सर्वप्रथम समन्वय गीता मे हुआ।

गीता मे हम वेदो के एकेश्वरवाद, ब्राह्मण ग्रन्थो के कर्मकाण्ड, उपनिषदो के ज्ञान एव पौराणिक भक्ति को समन्वित रूप मे देखते हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान् कृष्ण जहा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि कहकर कर्म का उपदेश देते है वहा 'योगस्थ कुरु कर्माणि' कहकर कर्म का विधान अनासक्त अवस्था मे श्रेयस्कर बतलाते है तथा आगे 'ज्ञानाग्नि' सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इस कथन से ज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित करते है, इन सबका स्पष्ट समाहार हम निम्न श्लोक मे देखत हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामह समुद्धर्त्ता मृत्युससारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

अर्थात् जो मुझमे समस्त कर्मों का समन्वय करके मरे परायण हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं मृत्यु-प्रधान ससार-समुद्र से उद्धार कर देता हू।

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय सर्वप्रथम गीता मे हुआ। और यही नही भगवान् ने अन्य वर्णों के साथ शूद्रो तक को तथा स्त्रियो को भी परम गति का अधिकारी बताया—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्ते ऽपि यान्ति परा गतिम् ॥

इस प्रकार गीता ने समन्वय तो किया परन्तु विरोध किसी न किसी रूप मे चलता ही रहा। बौद्ध और जैनो ने कर्मकाण्ड का घोर विरोध किया। आठवीं शताब्दी मे कर्मकाण्ड एव सगुणोपासना को निष्फल बतलाने के लिए स्वामी शकराचार्य ने ज्ञान का माहात्म्य प्रतिपादित किया और कुमारिल भट्ट जैसे कर्मकाण्डियों को ललकारा। कर्मकाण्ड भक्ति के ही साधन हैं जो विविध रूप मे उसकी उद्भावना मे सम्बल देते है। जब वैष्णव-प्रवरों ने इस प्रकार कर्म और भक्ति का दलन देखा तो उनमें प्रतिक्रिया हुई, जिसके फलस्वरूप श्री रामानुजाचार्य आदि न भक्ति का प्रचार किया।

सर्वप्रथम भक्ति का यह पुनरुन्नयन दक्षिण मे हुआ। रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना कर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया पुन मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने क्रमश ब्रह्म, रुद्र और सनकादि सम्प्रदाय स्थापित की और द्वैत, शुद्धाद्वैत एव द्वैताद्वैत सिद्धान्तो का प्रचार किया।

उस समय भक्ति के भी दो रूप थे—एक प्रेम-प्रधान और दूसरी ज्ञान-प्रधान। भागवत के आधार पर प्रेम प्रधान भक्ति को आलवार सत प्रचारित करते थे और ज्ञान प्रधान को य सत आचार्य। इन्होंने भक्ति को दार्शनिक पद्धति पर विवेचित किया परन्तु दक्षिण की देशभाषा मे प्रचार कर सस्कृत एव तामिल आदि भाषाओ के भावो का समन्वय कर दिया।

भक्ति के इस पुनरुत्थान स पूर्व शक्ति-पूजा का भी बोलबाला था। पूजक शाक्त कहलात थे। लक्ष्मी और सरस्वती का उल्लेख वेदो म भी हुआ है। आगे चलकर लक्ष्मी विष्णु की और सरस्वती ब्रह्मा की शक्ति-रूपा स्त्री कहलाई। वेदो के रुद्र ही आगे शिव हुए, इनकी भी शक्ति थी जिसका नाम पार्वती हुआ, जो भवानी, चण्डी, काली और गौरी आदि नामो से प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम दक्षिण मे ही शिव और पार्वती का एक सयुक्त रूप अर्धनारीनटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ और शक्ति-पूजा

आरम्भ हुई। कुछ लोगो का कथन है कि यह द्राविडो से आर्यों मे आई परन्तु वास्तव मे इसका वह रूप महायानी बौद्धो की तान्त्रिक शाखा मन्त्रयान की देन था क्योकि शाक्त भी तान्त्रिक क्रियाओ द्वारा ही भक्ति करते है।

इस प्रकार यह भी भक्ति का एक समन्वित रूप था परन्तु इसकी भी प्रतिक्रिया हुई। प्रथम वेदातियो ने और पुन. भागवतो ने इसका विरोध किया।

मन्त्रयानी सिद्धो मे से उद्भूत वज्रयानी एव सहजयानी सिद्धो की व्यभिचारपूर्ण साधना गुप्त रूप मे चलती थी। यह भी तन्त्र-मन्त्र पूर्ण ही थी। इन सिद्धो ने हठयोग की कुछ साधना को ग्रहण कर समन्वय की ओर पग तो बढाए परन्तु अनाचारी होने के कारण अधिक बढ न सके। निदान गोरक्षपा (गोरखनाथ) ने पृथक् सयमपूर्ण साधना-मार्ग निकाला और नाथपन्थ की नीव डाली। इन्होंने हठयोग को अपनाया परन्तु भक्ति को बहिष्कृत कर दिया अत वैष्णवो की सरस भक्ति के समक्ष उनका मार्ग प्रसारित न हो सका।

सिद्ध और नाथो ने वर्णाश्रम धर्म को कोई महत्त्व नही दिया, यही कारण है कि अधिकाश सिद्ध और नाथ निम्न जाति एव वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। जब वैष्णव-प्रवर रामानद ने वैष्णव धम का प्रचार किया तो उन्होने भी उपासना के क्षेत्र मे स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद पर बल नही दिया, इसीलिए हम उनके शिष्यो मे जुलाहे कबीर, सेना नाई और चमार रैदास को भी देखते हैं। भविष्यपुराण मे तो यहा तक लिखा है कि उन्होने बलात् विधर्मी बनाए गए मनुष्यो को भी पुन हिंदू धर्म मे सम्मिलित कर लिया और उन्हे 'सयोगी' नाम दिया—

म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्दप्रभावतः।
सयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यायां बभूविरे॥

रामानद जी के शिष्यो मे कबीर एक ऐसे सत हुए जिन्होने ज्ञान-भक्ति, धर्म-जाति, समाज, वर्ण एव और भी विषयो मे समन्वय किया।

यहा तक कि इन्होने साख्य, योग, वेदात, सूफीमत एव भागवत सिद्धातो का बहुत कुछ समन्वय किया परन्तु ये ज्ञान-भक्ति के साथ कर्म का समन्वय न कर सके। तदनन्तर सभी निर्गुणिए सन्तो ने ऐसा ही किया। सूफी-सन्तो ने भी यही मार्ग अपनाया। इन दोनो मे इतना अतर अवश्य रहा कि उन्होने ज्ञान को प्रधानता दी और इन्होने प्रेम को। वेदान्तियो और वैष्णवो में जो निर्गुण-सगुण का विवाद चला आ रहा था इन दोनो ने उसे यथासाध्य दूर कर निर्गुण ब्रह्म मे सगुणता का आरोप किया और उसे भक्ति के योग्य बनाया। इनपर यह वैष्णव प्रभाव ही था। कबीर आदि ने साख्य, योग, वेदात एव वैष्णवी भावना से बहुत कुछ लिया और सूफी भी पीछे न रहे परन्तु सूफियो ने मुसलमान होते हुए भी प्राय हिंदू कहानिया लेकर प्रबध काव्य लिखे। निर्गुणिए कुछ पक्षपातपूर्ण एव कटु भी थे परन्तु सूफी कही कटु नही रहे। वे अपने सिद्धान्तो का विवेचन तो करते हैं परन्तु आक्षेप या अधिक्षेपपूर्वक भर्त्सना नहीं करते।

जहा राम-भक्तो ने उक्त प्रकार से अपने प्रभाव को विस्तृत कर भक्ति का प्रचार किया वहा कृष्ण-भक्तो ने भी इसमे बहुत हाथ बटाया। श्री वल्लभाचार्य एव उनके शिष्यो ने उत्तरी भारत मे कृष्णोपासना का शखनाद फूका। बगाल मे श्री चैतन्य प्रभु आदि ने भक्ति की सरस धार बहाई। कृष्ण-भक्तो की इस प्रेम-लक्षणा भक्ति ने भक्ति का क्षेत्र तो विस्तृत किया परन्तु वे एकान्त ज्ञान की महत्ता को न सह सके।

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म का दीर्घ सघर्ष चलता हुआ तुलसी के समय तक आया। तुलसी ने—विशाल दृष्टि तुलसी ने—इस समस्त विवादग्रस्त घटनाचक्र पर दृष्टिपात किया और अपने उदार हृदय से इस विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने भक्ति को सर्वोपरि माना तथापि ज्ञान और कर्म की निन्दा नही की। तुलसी ने निर्गुण-सगुण एव द्वैत-अद्वैत का विरोध शान्त करने के लिए राम को निर्गुण-सगुण रूप मे माना है तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया है अत ज्ञान का महत्त्व स्वीकृत करना अवश्यम्भावी था और कर्म उपासना

के ही उपकरण हैं। ज्ञान और भक्ति की उन्होने यत्र-तत्र समता भी स्थापित की है, यथा—

ब्रह्म निरूपन धरम विधि बरनहिं तत्व विभाग।
कहहिं भगति भगवत कै सजुत ग्यान बिराग॥

इसमे ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति का कथन है।

इसी प्रकार मानस मे एक स्थान पर मार्ग मे जाते हुए रानी सहित राजा मनु की उत्प्रेक्षा सशरीर ज्ञान और भक्ति से की गई है—

पथ जात सोहहिं मति धीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा॥

निम्न चौपाइयो म भक्ति की गगा, ज्ञान की सरस्वती और कर्म की यमुना के समन्वित रूप प्रयाग के रूपक से वे अपनी तद्विपयक समन्वयवादिता को उद्घोपित करते हैं—

राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा॥
बिधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनदिनि बरनी॥

इसी प्रकार वे विरति और विवेक से युक्त हरि-भक्ति को ही श्रुति-सम्मत कहते हैं—

स्रुति समत हरि भगति पथ सजुत बिरति बिबेक।

इसी प्रकार हम अन्य क्षेत्रो मे भी समन्वय देखते हैं। तुलसी ने राजनैतिक विपमता को देखा, सामाजिक एव पारिवारिक कटुताओ को निहारा, धार्मिक एव नैतिक अध पतन पर भी दृष्टि डाली तथा साहित्यिक क्षेत्र मे भी भाषा एव विचार-विपयक भेद का अनुभव किया और पुन॰ उनका उचित समाधानपूर्वक प्रतिविधान भी किया। उन्होन अपनी कृतियो मे राजा एव प्रजा के कर्तव्य निर्धारित कर राजनैतिक विपमता को, माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वामी और अनुचर आदि की कर्तव्य-मर्यादा बतलाकर पारिवारिक एव सामाजिक कटुता को तथा इसी कर्तव्य के द्वारा नैतिक एव धार्मिक अध पतन को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके साथ-साथ शूद्रो, व्याधो और यहा तक कि वानरो, भालुओ एव राक्षसो से भी राम का प्रेमालिगन आदि सद्व्यवहार तुलसीदास की निम्न

वर्ग के प्रति सहानुभूति को ही व्यंजित करता है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए राम के इन कार्यों से इस विषय में अपनी उदारता और समन्वय-भावना को ही प्रदर्शित किया है। वे थे भी स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में और रामानन्द जी उपासना के क्षेत्र में वर्णों को महत्त्व नहीं देते थे।

भाषा के क्षेत्र में भी तत्कालीन प्रमुख व्रज एवं अवधी दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण कर उन्होंने समन्वय की भावना का परिचय दिया। उन्होंने इसी प्रकार प्रायः सभी शैलियों में रचना की। छप्पयपद्धति का प्रयोग उन्होंने मानस आदि में किया, पद-पद्धति में 'विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली लिखी, दोहा-पद्धति में दोहावली और चौपाई-दोहा-पद्धति में मानस का निर्माण किया, कवित्त-सवैया-पद्धति में कवितावली और बरवै-पद्धति में बरवै-रामायण की रचना की। इनके अतिरिक्त तत्कालीन एवं तद्देशीय लोकगीत सोहर का भी प्रयोग कर रामलला-नहछू लिखा।

इस प्रकार तुलसी ने समन्वय की भावना को ही सर्वोपरि रखा क्योंकि किसी भी विषय में विषमता, कटुता, पतन एवं भेद को दूर करके सम, मधुर, सर्वप्रिय और गौरवपूर्ण रूप देना ही समन्वय कहलाता है।

मोहन राकेश एम० ए०

१०

तुलसी : आपेक्षिक मूल्य

किसी भी कवि के आपेक्षिक मूल्य का निर्णय करने के लिए उस सारी काव्य-परंपरा पर दृष्टिपात करना होता है, जिसके अन्तर्गत उसके कृतित्व को स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्य परम्पराओं के सन्दर्भ में भी उसके मूल्य पर विचार करना अभीप्सित होता है। केवल कुछ कवियों की रचनाओं के चुने हुए उदाहरण पास-पास रखकर आपेक्षिक मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। बहुत बार फुटकल उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कुछ कवियों के काव्य-गुण के न्यौनाधिक्य की स्थापना देने, और इस तरह उनके ऐतिहासिक मूल्य का निर्णय करने के प्रयत्न किए जाते हैं। परन्तु उदाहरणोंका चयन चयन करने वाले की वैयक्तिक दृष्टि के अतिरिक्त और किसी तथ्य को स्थापित नहीं करता। इस तरह के निर्णय आलोचक की वैयक्तिक रुचि, या किसी कवि के प्रति उसके पूर्वाग्रह को ही प्रमाणित करते हैं। आपेक्षिक मूल्य का निर्णय करने के लिए जिस समन्वित तथा तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा है, वह कई बार वैयक्तिक और कई बार सैद्धान्तिक कारणों से नहीं रह पाती, इस तरह के मूल्यांकन में किसी न किसी अंश में भावुकता अवश्य आ जाती है। कहीं यह भावुकता कवि के व्यक्तित्व के प्रति रहती है, उसकी काव्य-वस्तु के प्रति, कहीं भावना के प्रति और कहीं शैली के प्रति। तुलसी और बिहारी की आलोचना करते हुए बहुत बार आलोचकों ने ऐसी भावुकता का आश्रय लिया है।

कवियों के आपेक्षिक महत्त्व का प्रश्न कई बार आलोचकों में पारस्परिक स्पर्द्धा का प्रश्न बन जाता है। एक या दूसरे कवि के महत्त्व की स्थापना के लिए एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर उद्घोषणाएं की जाने लगती हैं, जैसे प्रश्न कवि के मान का न होकर आलोचक के अपने मान का हो। इस तरह की उद्घोषणाएं इसी तरह के विरोध को जन्म देती है, और आलोचना अतिवाद के दोष से ग्रसित होकर अपने कर्तव्य से हट जाती है।

तुलसी के आपेक्षिक मूल्य के सम्बन्ध मे भी कई बार अतिवादी उद्घोषणाएं की गई है। परन्तु तुलसी के काव्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन करा देने से स्वत ही उनके आपेक्षिक मूल्य का निर्णय नही हो जाता। इसके लिए दो बातों को दृष्टि मे रखना अपेक्षित है। एक तो यह कि जिस विशिष्ट काव्य-परम्परा के अन्तर्गत उनके कृतित्व को स्थान प्राप्त है, उसकी उपलब्धियां क्या है, और आपेक्षिक दृष्टि से उनकी रचनाओं मे उन उपलब्धियों का समावेश कहा तक हो पाया है। दूसरे यह कि उसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य काव्य-परम्परा विकसित हुई है, तो उसके प्रतिनिधि कृतित्व के परिपार्श्व मे उनके कृतित्व का मूल्य क्या है।

ऐतिहासिक काल विभाजन को दृष्टि मे रखें, तो हिन्दी काव्य के उदयकाल से रीतिकाल के अन्त तक तीन अलग अलग प्रवृत्तियां दृष्टि-गोचर होती हैं, परन्तु समन्वित दृष्टि से देखने पर इन सब के अन्तर्गत एक ही विशिष्ट काव्य-परम्परा का निर्वाह परिलक्षित होता है। यद्यपि चन्द से बिहारी तक विभिन्न कवियो की भाव-भूमि और काव्य-दृष्टि में पर्याप्त अन्तर रहा है, और इसमें सदेह नही कि वीरगाथा-काव्य की वस्तु-परकता से हटकर भक्ति-काव्य मे भाव-परकता और रीति-काव्य मे शब्द-परकता की ओर कवियो की अधिक प्रवृत्ति हुई, फिर भी यह स्पष्ट है कि इन सब धाराओं मे कवियों की जीवन-कल्पना और अभिव्यक्ति-पद्धति में एक निश्चित सामान्यता बनी रही है। जहा एक ओर इन कवियों की जीवन-कल्पना मे असाधारण के प्रति मोह का विशेष परिचय मिलता है, वहा शब्द और अर्थ के रूढ़िगत सकेंतों से मुक्त होने का प्रयत्न इन्होंने

बहुत कम किया है। कबीर जैसे कवि के काव्य मे भी, जिन्होने अपनी वाणी को साधारण जन-जीवन के साचे मे ढाल दिया था, यह असाधारण का मोह कुछ कम नही है। कबीर के प्रतिपाद्य को दृष्टि मे रखें, तो यह बात स्वत सिद्ध हो जाती है। मनुष्य की साधारणता से प्यार करते हुए भी, वे उसे एक असाधारण भूमि की ओर ही प्रवृत्त करना चाहते हैं। उनकी रहस्य-साधना और रहस्यमय प्रिय की कल्पना ने उन्हे परपरा से बाहर नही जाने दिया। इस सारी परपरा मे साधारण व्यक्ति या साधारण जीवन का वातावरण किसी भी कवि के लिए प्रतिपाद्य नही बन सका। सूर अपने विशिष्ट क्षेत्र मे अन्य कवियो की अपेक्षा साधारण मानवमन के अधिक निकट पहुचे तो हैं, परन्तु अपनी परम्परा के सस्कारो से मुक्त होकर नही। एक बालक के रूप मे साधारण आचरण करते हुए भी, उनके बालकृष्ण सदैव साधारण की भूमि से ऊपर उठ जाते रहे हैं, और नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपियो की भी वह साधारण की भूमि बनी नही रही। जिन नायक नायिकाओ का इस परम्परा के अन्तर्गत चित्रण हुआ है, उनकी कल्पना लगभग सब कवियो के लिए समान रही है। वीरगाथा से भगवद्गाथा और भगवद्गाथा से साधारण विलासगाथा की ओर बढते हुए इस परम्परा के अन्तर्गत नायक-नायिका के स्वरूप और उस स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले उपादानो में अन्तर नही आया। इन सब के सामने आलम्बन और उद्दीपन विभावो का एक निश्चित स्वरूप रहा है। विभिन्न विचारधाराओ द्वारा अनुप्राणित होने और कबीर और तुलसी की तरह कही-कही परस्पर-विरोधी दृष्टियो का समर्थन करने पर भी, व्यक्ति और उसके वातावरण के सम्बन्ध मे इन सब कवियो की दृष्टि मे एक निश्चित साम्य दिखाई देता है। इन कवियो के काव्यक्षेत्र में अन्तर आया, परन्तु क्षितिज वही रहा। बिन्दु बदले, परन्तु विस्तार की रेखा एक ही रही।

जहा तक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, उसे इस परम्परा के अन्तर्गत सस्कृत काव्य की रूढियो ने प्रभावित किए रखा है। जहा भावना

बलवती थी, वहा अभिव्यक्ति की रुढ़िया गौण अवश्य हो गईं, परन्तु सर्वथा नये सकेतो की उपलब्धि फिर भी नही हुई। वाल्मीकि से जयदेव तक अभिव्यक्ति की जो मर्यादाए निश्चित हुई थी, उन्हींकी परिधि मे रहकर रचना की जाती रही। दूसरी ओर भावना और वस्तु के क्षेत्र मे सामन्तवादी जीवन-दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय जीवन मे सामन्तवादी व्यवस्था का प्रभाव अन्य कई देशो की अपेक्षा अधिक समय तक रहा है। आज से कुछ वर्ष पूर्व तक देश के कई छोटे-छोटे खण्डो मे यह व्यवस्था ज्यों की त्यों चल रही थी। भारतेन्दु के काल तक हमारी काव्य-परम्परा उस व्यवस्था के सस्कारो से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील नही हुई। सामन्तवादी जीवन-दृष्टि ने ही शताब्दियो तक हमारी काव्य-चेतना के लिए असाधारण को जीवन का मानदण्ड बनाए रखा। हर प्रदेश और काल की काव्य-चेतना तब तक अपने आसपास की व्यवस्था के मानदडो को स्वीकार किए चलती है, जब तक कि आसपास के जीवन मे ही आमूल क्रान्ति की भावना जन्म नहीं लेती। हिन्दी काव्य के उदयकाल से रीतिकाल के अन्त तक अनेकानेक राजनीतिक परिवर्तन होने पर भी ऐसी आमूल क्रान्ति का अवसर नही आया। इसलिए इस सारी परम्परा मे एक से सस्कार बने रहे। इसीलिए चरित्र-नायक के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए उसमे प्राय सभी उदात्त गुणो का आरोप, वस्तु-व्यापारादि के वर्णन मे अतिशयोक्ति, लोकोत्तरता की भावना, कल्पनाश्रित बिम्ब-विधान तथा ऐसी बहुत-सी बातें इस परम्परा के अन्तर्गत सामान्य दिखाई देती हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि भक्तिकाल की प्रबन्ध और मुक्तक-परम्परा वीरगाथाकाल के पहले से चली आ रही काव्य-परम्परा का ही विकसित रूप है और रीतिकाल की मुक्तक-परम्परा उर्दू और फारसी की काव्यधारा से भावित होकर भी भक्तिकालीन काव्य-परम्परा का ही परिवर्तित रूप है। यदि पद्मावत की प्रतीकात्मक व्याख्या की बात थोड़ी देर के लिए भुला दी जाए, और राम के परब्रह्मत्व को भी क्षणभर के लिए विस्मृत

कर दिया जाए, तो नायकों के औदार्य, शौर्य और सौंदर्य आदि के वर्णन की दृष्टि से तथा खल नायकों के पर-स्त्री-प्रेम, नृशंस आचरण और उच्छृंखल व्यवहार आदि के निरूपण की दृष्टि से चंद, जायसी और तुलसी एक ही विशिष्ट परम्परा का निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी हो, राम और रावण हो या शिवाजी और औरंगजेब, इस परम्परा के कवियों को हम प्राय एक से चरित्र-वैषम्य की सृष्टि करते देखते हैं। युद्ध या प्रेम के प्रसंगों का चित्रण करने के लिए इन कवियों के पास छन्दो, अलकारो, भावो और विभावों की लगभग एक सी पूजी है, जिसका अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य और समय की प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने उपयोग किया है। उनमे नये सन्दर्भों की खोज की अपेक्षा परम्परागत सन्दर्भों को ही नया रूप और आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है। अत वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत जहा वे आलम्बन और उद्दीपन विभावों की एक सीमित परिधि से बाहर नही जा पाए, वहा भाव-पक्ष के अन्तर्गत भी इनमे से कोई कवि पुनरावृत्ति के दोष से नही बच पाया। कही यह पुनरावृत्ति दूसरों की है और कही अपनी ही। विद्यापति मे जयदेव की पुनरावृत्ति के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं, तो सूर मे विद्यापति की पुनरावृत्ति के। तुलसी की वस्तु और भावना की विस्तृति मे बहुत कुछ ऐसा है, जिसे वाल्मीकि और अध्यात्मरामायण की पुनरावृत्ति कहा जा सकता है। बिहारी के काव्य मे कितनी पुनरावृत्ति है, इसका पता पद्मसिंह शर्मा की सतसई की भूमिका से चल सकता है। यह इन सब कवियो की मौलिकता पर आक्षेप नही है। नि सन्देह इन सबकी मौलिकता का एक निश्चित क्षेत्र है, और बहुत जगह इनके व्यक्तित्व के स्पर्श से पुनरावृत्ति भी पुनरावृत्ति नही रही। परन्तु यहा प्रतिपाद्य यह है कि इन सब कवियो के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक निश्चित परिधि के अन्तर्गत हुई है, और उस परिधि की सामान्यता आदि काल से रीति-काल के अन्त तक बनी रही है। उस परिधि मे भावना अधिकांशत अन्तर्मुख रही है, और बिम्बो का सचय आसपास के साधारण जीवन

से नही हुआ। कबीर की आक्षेपात्मक उक्तियों और सूर के वात्सल्य-वर्णन को छोडकर अपने निरीक्षण को काव्यबद्ध करने के प्रयोग नही के बराबर ही हुए हैं। संस्कृत कवियों के हाथों जिस काव्य-प्रासाद की रचना हुई थी, इन कवियों ने अपने उपादानों से उसीका रूपान्तरण किया, सर्वथा नई भूमि की खोज, या सर्वथा नये निर्माण का आग्रह इन्हे नही रहा।

हिन्दी काव्य की इस परम्परा को निश्चित प्रौढता भक्तिकाल मे आकर ही प्राप्त हुई, यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है। उत्तरवर्ती काल मे, एक मोड लेने के बाद इस परम्परा का धीरे-धीरे ह्रास हो गया। मुक्तक के क्षेत्र मे इस परम्परा का चरम विकास विद्यापति, कबीर और सूर के हाथो हुआ, और प्रबन्ध के क्षेत्र मे तुलसी के हाथो। यद्यपि मुक्तक के क्षेत्र मे भी तुलसी की देन कम महत्त्वपूर्ण नही है, फिर भी उस विधा की सम्भावनाओ पर उन्होंने अपने को उस तरह केन्द्रित नही किया, जैसे पूर्वोक्त कवियो ने। मुक्तक-परम्परा का एक विशेष दिशा मे परिमार्जन बिहारी ने भी किया, परन्तु केवल शब्द-शोध और शब्द-शक्तियो के विस्तार को ही काव्य की कसौटी नही माना जा सकता। बिहारी के काव्य मे निजी भावना का वह परिस्पन्दन नही है, जो काव्य की आत्मा है। बिहारी के काव्य मे अभिव्यक्ति की ही प्रमुखता है और मात्र अभिव्यक्ति काव्य के उत्कर्ष को प्रमाणित नही करती।

प्रबन्ध और मुक्तक के भेद के कारण भक्त कवियो की रचनाओ मे कोई आधारभूत अन्तर उपस्थित हुआ हो, ऐसा नही। विद्यापति और सूर की रचनाओ में, प्रबन्ध-काव्य न होते हुए भी, कथा-तत्त्व विद्यमान है, और इसीलिए पदो के सकलन मे एक निश्चित अन्विति है। केवल कबीर के काव्य में ऐसा नही है। फिर दोनो क्षेत्रो के अन्तर्गत वर्णन-पद्धति और भावांकन-पद्धति मे इतनी सामान्यता है कि किसी निर्दिष्ट विभाजक रेखा का अवकाश प्रतीत नहीं होता। विनय, अनुराग या मोअस्थिता के प्रसगों में सब मे एक सी साधारणता और व्यजनात्मकता का परिचय मिलता

है। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत मानव और उसके प्राकृतिक वातावरण के अधिक विशद चित्रण का अवकाश रहते हुए भी, ऐसा नही हुआ कि इनको वहा कोई पृथक् या स्वतन्त्र पीठिका प्राप्त हो गई हो। प्राकृतिक वातावरण का उपयोग फिर भी उद्दीपन विभाव के रूप मे ही रहा है, जैसा कि परम्परा-सिद्ध था, और मानव की अवतारणा अतिमानव या अतिमानवीय प्रतीक की प्रतिष्ठा के लिए उपकरण के रूप मे। निर्वैयक्तिक दृष्टि से मानवीय चरित्रो की स्थापना लगभग नही ही हुई। मानस मे मन्थरा जैसे चरित्र का अकन अपवाद के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। भावना के आधार-बिन्दु भिन्न होते हुए भी, इन सभी भक्त कवियो की अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रियाए लगभग समान रही हैं। इसलिए विधा के भेद को मूल्यगत भेद नही माना जा सकता, और न ही उसे निर्णय का आधार बनाया जा सकता है।

भक्ति-काव्य मे आकर उपर्युक्त परम्परा को चरम विकास प्राप्त हुआ। इसका कारण यह था कि तब तक के प्रयोगो ने इस परम्परा का परिमार्जन करके भक्त कवियो के लिए अपेक्षित भूमि प्रस्तुत कर दी थी, और भक्त कवियो ने उस भूमि को केवल रूढि के रूप मे ही नही ग्रहण किया, अपितु अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह उसमे समाहित कर दिया। व्यक्तित्व और कृतित्व मे जैसा सामजस्य इन भक्त कवियो की रचनाओ मे दिखाई देता है, वैसा उनसे पूर्ववर्ती या परवर्ती कवियो की रचनाओ मे दिखाई नही देता। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का दैनदिन व्यावहारिक जीवन उनके मानसिक जीवन से भिन्न नही था, और उनका काव्य उनके मनोलोक का ही सच्चा प्रतिबिम्ब है। जिन भावनाओ को उनकी रचनाओं मे अभिव्यक्ति प्राप्त होती थी, वे भावनाए उनके सब जीवन-व्यापारो तथा क्रिया-कलापो को भी व्याप्त किए थी। उनके मानव-धर्म और कविधर्म के बीच कोई विभाजक रेखा नही थी। मानव के रूप मे किए जाने वाले उनके हर कर्म मे उसी भावना की व्याप्ति थी, और उनके सब सम्बन्धो का निर्धारण भी भावना की कसौटी से ही होता था।

भौतिक उपलब्धियों की दृष्टि से वे सब आत्मनिरपेक्ष व्यक्ति थे, इसलिए भावना को उनकी पूरी आत्मशक्ति प्राप्त थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में वह निजता, सहजता और प्रामाणिकता है, जो उनके उत्कर्ष का प्रमाण है। इसके विपरीत रीतिकाल और उससे आगे के कवि न्यूनाधिक मात्रा में कवियश प्रार्थी अवश्य रहे, और जहां यह प्रार्थित्व हो, वहां व्यक्तित्व और कृतित्व में अनिवार्य रूप से एक विभाजक रेखा खिंच जाती है। राज्याश्रित कवियों का कृतित्व आश्रयदाताओं के प्रसाधन के निमित्त था, इसलिए उसमें वैसी निजता, सहजता और प्रामाणिकता का अवकाश ही क्योंकर हो सकता था ? भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा जब द्रव्य या प्रशंसा के रूप में प्राप्त होने वाला रचना का प्रतिपादन अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, तो रचना के आन्तरिक गुण का ह्रास स्वतः सिद्ध है। जब रचना किसी भी रूप में व्यवसाय-बुद्धि से अनुप्राणित होती है, तो उसमें रचयिता की अपेक्षा उनका व्यक्तित्व प्रतिफलित होने लगता है, जिनका उसे प्रसाधन करना होता है।

भक्त कवियों के सामने रचना का एक ही उद्देश्य था—निजी भावना की अभिव्यक्ति। उनकी भावना में जो व्यापकता और गहराई थी, शब्द उसके संवहन के लिए आश्रय मात्र थे। इसलिए वे शब्दों की स्वाभाविक सामर्थ्य, ध्वनि और व्यंजना, के आश्रय से गूढ़ से गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति में सफल हो सके। हर शब्द का इतिहास उसके अर्थ की सामर्थ्य को निश्चित करता है। वह अपनी सामर्थ्य की सीमा में सूक्ष्म से सूक्ष्म की अभिव्यक्ति करता है, और बड़ी से बड़ी बात भी कह देता है। शब्द की यह सामर्थ्य कृत्रिम जोड़-तोड़ से नष्ट हो जाती है। श्लेष और अनुप्रास आदि अलंकार शब्द की उस वास्तविक सामर्थ्य को दबा देते हैं। भक्त कवियों ने अधिकांशतः शब्दों की वास्तविक सामर्थ्य के अनुसार ही उनका प्रयोग किया है, यह उनकी रचना की बहुत बड़ी विशेषता है। कबीर की उलटबांसियां और सूर के दृष्टकूटों की बात जाने दें। उन्हें काव्य न कहकर प्रहेलिका ही कहना चाहिए। अन्यथा इन

कवियों की भावना में जो सहजता है, वही इनके शब्दों में भी है। भावना जितने सूक्ष्म तन्तुओं में प्रवाहित होती जाती है, शब्द उतने ही सूक्ष्म तन्तुओं में उसे समेट लेते हैं। पाठक और श्रोता पर इससे सीधा और गहरा प्रभाव पड़ता है। जब तक अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऐसा सन्तुलन न हो, तब तक रचना के सम्प्रेषण में स्वाभाविकता और निश्चितता नहीं आती। अभिव्यक्ति का वास्तविक सौन्दर्य है भावना के लिए उसकी अनुकूलता, और उसकी शक्ति, सम्प्रेषण की तीव्रता। इसलिए भी समर्थ अभिव्यक्ति के लिए आन्तरिक भावना की पूर्वापेक्षा है। वस्तुतः भावना ही अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का उद्बोध करती है, उसकी सम्भावनाओं को विकसित करती है। भावनाविहीन अभिव्यक्ति का सौन्दर्य जड़ सौन्दर्य है, जो अपने वैचित्र्य से गुदगुदा अवश्य देता है, मन-प्राण को पुलकित नहीं करता। समर्थ कवि अपनी भावना के लिए समर्थ अभिव्यक्ति पा लेता है, कई बार असमर्थ शब्दों को झटककर समर्थ बना देता है। अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भावना की हर तरंग को समेट ले, इसका आदर्श उदाहरण सूर का काव्य है। भावना शब्दों में नई सामर्थ्य का सचार कर दे, इसका उदाहरण कबीर की रचना है। दोनों ही स्थितियों में अनुभूति और अभिव्यक्ति का सन्तुलन बना रहा है। परवर्ती रीति काव्य में यह सन्तुलन लुप्त हो गया। सूर की इन पंक्तियों में तो विभोर कर देने की क्षमता है—

> मधुकर स्याम हमारे चोर।
> मन हरि लीन्हो माधुरि मूरति, चिते नयन की कोर॥

वही कबीर की इन पंक्तियों में भी है

> सतगुर है रगरेज चुनर मेरी रग डारी।
> स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग।
> धोये से छूटे नहिं रे दिन दिन होत सुरंग॥

परन्तु इन पंक्तियों में वह नहीं

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय ।
ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय ॥

विहारी की पक्तियो से केवल एक बौद्धिक ह्लाद की सृष्टि होती है, रस की नही ।

इस काव्य-परम्परा के अन्तर्गत भक्ति-काव्य के आपेक्षिक महत्व को जान लेने के अनन्तर, भक्त कवियो के कृतित्व के आपेक्षिक मूल्यांकन का प्रश्न सामने आता है । सामान्य भूमि और सामान्य शिल्प के रहते हुए भी, इनमे से प्रत्येक के व्यक्तित्व मे ऐसी विशेषता है, जो उसे दूसरो से पृथक् कर देती है । विद्यापति (उन्हे भक्त कवि न माना जाए, तो भी परम्परा के अन्तर्गत अध्ययन करते हुए उनका उल्लेख सन्दर्भच्युत नही) के काव्य मे जो ऐन्द्रिय आवेश है और ध्वनि और लय के साथ भावना का जो सयोग है, वह अन्य किसी कवि की रचना मे नही है । ध्वनि और लय की सामर्थ्य का परिचय पाने के लिए विद्यापति की कोई भी पक्तिया उठाई जा सकती हैं—

कर घर कर मोहे पारे ।
देव मैं अपरुब हारे कन्हैया ॥
सखि सब तेजि चली गेली ।
न जानू कौन पथ भेली कन्हैया ॥
हम न जाएब तुम पासे ।
जाएब औघट घाटे कन्हैया ॥
विद्यापति एहो भाने ।
गुर्जरि भज भगवाने कन्हैया ॥

शब्द जिस चित्र की रचना करते हैं, लय उसमे प्राण फूक देती है और भावना सजीव होकर सामने आ जाती है । इस समात्मकता ने विद्यापति के काव्य मे बहुत सूक्ष्म स्पर्शिता भर दी है, जो हृदय के कोमल से कोमल तन्तुओ को छेड़ देती है ।

कबीर की जो विशेषता उन्हे अन्य कवियो से पृथक् करती है, वह है उनके काव्य की शक्तिमत्ता। जहा विद्यापति के पद कोमल उगलियो की तरह स्नायुओं को सहलाकर पुलकित कर देते है, वहा कबीर की पक्तिया हृदय पर सीधी चोट करके उसे जगा देती हैं—

दिन भर रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बदगी कसी खुसी खुदाय ॥

कबीर जिनके लिए रचना करते थे, सीधे उनसे व्यवहार भी करते थे, इसलिए उनकी रचना मे बहुत स्पष्टता, तीव्रता और अनुलोमता है। सीधे-सादे शब्दो मे सीधी दो-टूक बात कह देने का गुए उनके व्यावहारिक जीवन से ही उनके काव्य मे अवतरित हुआ है। काव्यगत रूढियो का सबसे अधिक तिरस्कार किसीने किया है तो कबीर ने, और इसीमे उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की एक विशेषता स्थापित कर ली है।

जायसी की विशेषता उनका कथाशिल्प है। मसनवियो की शैली और भारतीय महाकाव्य-पद्धति का योग करके उन्होने जिस दिशा का विधान किया, उसे बहुत अश तक तुलसी ने भी अनुकरणीय माना। इसके अतिरिक्त अवान्तर प्रसगो मे से गुजरते हुए भी जायसी अपनी कथा की रोचकता और एकसूत्रता बनाए रखने मे समर्थ हुए हैं। इसका एक कारण सम्भवत यह भी है कि कथा-विधान मे मानसकार की अपेक्षा उन्हे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, क्योकि उनके सामने कथा की पहले से निर्दिष्ट सीमाए नही थी। दूसरे तुलसी ने अपने सिद्धान्तो के प्रतिपादन और जीवन के सम्बन्ध मे अपनी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए कथा के अन्तर्गत जैसे अवकाश ले लिए हैं, वैसे अवकाश उन्होंने नही लिए। कथा को ही अपना प्रतीक मानते हुए उन्होंने कथा के निश्चित प्रवाह को बनाए रखा है। उसी प्रवाह मे यथावसर कई तरह के वर्णनो और भावपूर्ण स्थलो की योजना हो गई है। भावना की अभिव्यक्ति कई जगह बहुत सुन्दर है—

सखिन्ह रचा पिउ सग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुभी चोला ॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥

बाट असूझ अथाह गंभीरी । जिउ बाउर भा फिरै भंभीरी ॥
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
परबत समुद अगम बिच बीहड़ घन बन ढाँख ।
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह ना मोहि पांव न पाँख ॥

सूर की विशेषता उनकी तन्मयता है । उन्होंने जैसे अपनी भावना और अपने चरित्रो मे अपने को पूरी तरह खो दिया है । उन्हें अपने व्यक्तित्व का कुछ बोध है तो बस 'द्विविध आधरे' और 'बिना मोल के चेरे' के रूप मे ही । अन्यथा नन्द-यशोदा और गोप-गोपिकाओ से स्वतत्र उनका जैसे अस्तित्व ही नही रहा । सूर-काव्य का अध्ययन करते हुए लगता है कि सूर-शब्द एक व्यक्ति का बोधक न होकर, एक भावना का बोधक है । सूर स्वय कृष्णमय हैं, इसलिए कृष्ण के साथ उनका सखा का सम्बन्ध ही नही रहा, माता और प्रेयसी का सम्बन्ध भी रहा है । कृष्ण के विरह मे यशोदा और गोपिकाओ की वेदना को जैसे उन्होंने स्वय अनुभव किया है । यशोदा के इस उन्माद मे सूर का ही हृदय मुखरित हुआ है—

सराहो तेरो नन्द हियौ ।
मोहन सो सुत छाँडि मधुपुरी गोकुल आनि जियौ ॥

और गोपिकाओ की ऐसी-ऐसी उक्तियो मे भी—

ऊधो मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाँडि अमृतफल विषकीरा विष खात ॥

यों तो समूचे भक्ति-काव्य की रचना आन्तरिक भावना मे हुई है, पर सूर मे यह आन्तरिकता पराकाष्ठा तक पहुच गई है । वे उठते-बैठते, सोते-जागते जैसे भावना में हो जीते हैं । भावना के आप्लावन मे और सब कुछ खो गया है । गोपिकाओ की यह उक्ति जैसे उनके जीवन का भी मूल-मन्त्र बन गई है—

हम तो नन्द घोष के बासी ।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप गोपाल उपासी ॥

इसी तरह तुलसी की मुख्य विशेषता है उनकी चिन्तनशीलता। तुलसी ने जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे बहुत कुछ जाना-समझा था। उनका शास्त्रीय अध्ययन भी विशद था और समकालीन परिस्थितियो के सम्बन्ध मे भी वे बहुत सचेत थे। उन्होने अपनी सम्पूर्ण काव्यशक्ति जीवन के स्वरूप का परिष्कार करने की ओर निवेदित कर दी थी। जीवन के नव निर्माण के सम्बन्ध मे उनकी व्याकुलता ने ही उन्हें जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन करने और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्वो के समाहार की ओर प्रवृत्त किया। उन्होने शास्त्र को पुस्तक के पन्नो से निकालकर जीवन म प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इसीलिए तुलसी का समूचा कृतित्व साथ मे एक जीवन-दर्शन भी है। उस जीवन दर्शन की सार्थकता अलग से विचार करने का विषय है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि तुलसी की भावना उनके चिन्तन के साथ समन्वित होकर चली, और पाखण्ड, प्रपच तथा विषय-वासनाओ के जिस कीचड से समाज लथपथ था, उसे अपनी वाणी की धारा से उन्होने प्रक्षालित कर देना चाहा—

नयन मलिन परनारि निरखि मन मलीन विषय सग लागे।
हृदय मलिन वासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निन्दा सुनि स्रवन मलिन भए बदन दोष पर गाये।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥
तुलसिदास व्रत ज्ञान दान तप सुद्धि हेतु सुति गावे।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अतिनास न पावे॥

अब तक सकेत रूप से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, कि जिन कवियो की रचना स भक्ति-काव्य की समृद्धि का निर्माण हुआ है, वे सब कही न कही दूसरो से विशिष्ट हैं। इसलिए यदि हम किसी एक कवि के रचना-सौष्ठव का परिचय देते हुए, अथवा उसकी देन के महत्त्व की स्थापना करते हुए, उसके आपेक्षिक मूल्य का निर्धारण करते हैं, तो यह प्रयत्न एकागी होगा। 'सूर सूर तुलसी ससी' जैसी उक्तिया म जहा

विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक दृष्टि का स्पर्श नही है, वहा मिश्र बन्धुओ की सी इन उद्घोषणाओ मे भी नही कि 'हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास के बढकर कोई कवि, हमारी जानकारी मे, कभी किसी भी भाषा मे, ससार भर मे, कहीं नही हुआ।' इस प्रसग मे उनकी जानकारी निस्सदेह बहुत सीमित है, उनके निष्कर्ष को सामने रखते हुए नही, उस निष्कर्ष तक पहुचने की प्रक्रिया को सामने रखते हुए, क्योंकि अपने अध्ययन मे उन्होंने ससार की किसी भी भाषा के किसी भी अन्य कवि के सम्बन्ध मे ऐसा प्रकाश नही डाला है, जिससे उनके मन्तव्य की पुष्टि हो सके। इस तरह की उद्घोषणाओ से, पर्याप्त आधार न होने के कारण, नि सन्देह किसी कवि का मान बढता नही है।

यहा यह स्पष्ट कर देना भी उचित प्रतीत होता है कि किसी एक रचना का व्यापक प्रचार और प्रसार भी इस बात का प्रमाण नहीं है कि काव्य की दृष्टि से उस रचना का उतना ही व्यापक मूल्य है। कई बार ऐसा होता है कि विशिष्ट काव्यगत मूल्य के न रहते हुए भी किसी रचना को एक जाति या सम्प्रदाय के जीवन मे विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। इसके मूल मे कई तरह के कारण निहित रहते हैं। कुछ ग्रन्थ साधारण कोटि के काव्य होते हुए भी कुछ सम्प्रदायो के धर्म-ग्रन्थ या पूज्यग्रन्थ बन गए हैं। उन सम्प्रदायो के अन्तर्गत उन ग्रन्थो का अध्ययन रसास्वादन के लिए या मनन चिन्तन के लिए न होकर एक विशिष्ट धार्मिक उपलब्धि के लिए ही होता है। काव्य के रूप मे उन ग्रन्थो का सही मूल्याकन कई बार साम्प्रदायिकों के आक्रोश का विषय बन जाता है। एक बहुत बडे वर्ग मे मानस का अध्ययन भी इसी रूप में होता है। रामनवमी से पहले कई घरो मे मानस का अखण्ड पाठ रखा जाता है। एक के बाद एक व्यक्ति दोहे-चौपाइयों का उच्चारण किए जाता है। इनमे किसी व्यक्ति को तुलसी के भाव-सौंदर्य का बोध होता होगा, या कोई तुलसी की सामाजिक दृष्टि को समझ पाता होगा, इसमें सन्देह है। अत इस तरह के अध्ययन को काव्य की लोकप्रियता का तर्क मानना अत-

गत होगा। रामचरितमानस के महत्त्व की स्थापना के लिए ऐसा तर्क देना तो वास्तव मे उस ग्रन्थ के महत्त्व को कम करना है। इसी तर्क-पद्धति का अनुसरण करते हुए कोई यह भी कह सकता है कि उत्तर-भारत मे कृष्ण-भक्ति का जितना व्यापक प्रचार है, उतना राम-भक्ति का नही, इसलिए कृष्ण-भक्ति काव्य का महत्त्व अपेक्षया अधिक है। यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस तरह की तर्क-पद्धति किसी भी काव्य के मूल्यांकन मे सहायक नही हो सकती। जातीय जीवन मे किसी रचना को प्राप्त हुई विशेषता भी अपने मे किसी निष्कर्ष की ओर संकेत नही करती। हर समय के जातीय संस्कार उस रचना को अधिक मान्यता देंगे, जो उनका पोषण करती है, उस रचना को नही जो उन-पर चोट करती है। इसलिए कबीर की जीवन-दृष्टि की अपेक्षा तुलसी की जीवन-दृष्टि को जातीय सस्कारो ने अधिक मान्यता दी, इससे भी दोनों के आपेक्षिक काव्य मूल्य का निर्णय नही हो जाता। मार्ग या दृष्टि के भेद का भावना की गहराई पर कोई प्रभाव नही पडता। आन्तरिक विश्वास होने पर आस्तिक और नास्तिक की भावना मे एकसी गहराई हो सकती है। तुलसी और कबीर के विश्वास एक दूसरे से टकराते थे, पर दोनो की भावना की गहराई असन्दिग्ध है। विश्वास के क्षेत्र मे तुलसी की एक दृष्टि है—

> स्रुति सम्मत हरिभगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
> तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥
> साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
> भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान॥

तो कबीर की दृष्टि दूसरी है—

> जप तप पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
> कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना॥

परन्तु भावना का आग्रह दोनो मे एक सा है—

> जाके प्रिय न राम बैदेही ।
> तजिये सो नर कोटि वैरि सम जद्यपि परम सनेही ॥

एव

> प्रीतम को पतियाँ लिखूं जो कहुँ होय बिदेस।
> तन मे मन में नयन मे ता को कहा सदेस॥

प्रत्येक कवि का प्रकोष्ठ-गत अध्ययन होने के कारण आपेक्षिक मूल्य के प्रश्न को अब तक बहुत गम्भीरतापूर्वक नही उठाया जा सका है, फिर भी व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए अनायास इस बात की ओर ध्यान जाता है कि जिस तरह एक काव्य-परम्परा का चरम विकास भक्ति-काव्य मे आकर हुआ, उसी तरह भक्ति-काव्य की प्राय सभी विशेषताओ का प्रतिनिधित्व तुलसी के काव्य मे हुआ है। काव्य के सामूहिक प्रभाव को दृष्टि मे रखें तो अन्य कवियो की रचनाओ मे जहा किसी एक या दूसरी विशेषता का परिपाक हुआ है, वहा तुलसी के काव्य मे अनुभूति और अभिव्यक्ति की वे सभी विशेषताए समाहित हैं, जिनसे भक्ति-काव्य के महत्त्व का निर्धारण हुआ है। एक-एक क्षेत्र में दूसरो की रचनाओ का मूल्य अधिक हो सकता है, परन्तु अन्य किसी कवि का कृतित्व अपने में उस सारी काव्य-परम्परा का प्रतिनिधित्व नही करता, जिसका इतिहास तुलसी से पाच सौ वर्ष पहले आरम्भ होता है, और अढाई सौ वर्ष बाद तक चलता है। यह विशेषता इतने मे ही नही कि उन्होंने सभी प्रचलित काव्य-शैलियो में रचना की है, अपितु उससे कही अधिक इस बात मे है कि उनकी रचना मे भावना, बुद्धि और कल्पना का जो सामजस्य है, और उनकी अभिव्यक्ति म जो अनुकूलता है, वह इस समन्वित रूप मे अन्य किसी कवि की रचना म दिखाई नही देती।

विद्यापति और सूर का काव्य अनुभूति प्रधान है, परन्तु उसमे चिन्तनशीलता और लोकादर्श की भावना नहीं है। सूर की अनुभूति मे बहुत विशदता और व्यापकता है, क्योकि अनुभूति की व्यापकता का

सम्बन्ध उन विषयो की विविधता के साथ नही है, जिनके आश्रय से अनुभूति जन्म लेती है। अनुभूति की व्यापकता का अर्थ है उसका किसी भी क्षेत्र को उसकी सम्पूर्णता मे व्याप्त कर लेना। सूर के सम्बन्ध मे यह स्वीकार किया जाता है कि वात्सल्य और अनुराग के क्षेत्र मे प्राय सभी स्थितियो को उनकी लेखनी ने छुआ है। विद्यापति ने भी अनुराग के क्षेत्र मे प्राय सभी प्रसगो की झाकी प्रस्तुत की है। अभिव्यक्तिगत सौंदर्य की दृष्टि से भी इन दोनो की रचनाओ का बहुत मूल्य है। कोमल शैली के आश्रय से उन्होंने सुन्दर बिम्ब-विधान किया है, जो बहुत व्यजनात्मक और हृदयग्राही है—

> ससन परस खसु अम्बर रे
>
> देखल धनि देह।
>
> नव जलधर तर सचर रे
>
> जनि बिजुरी-रेह ॥

इन पक्तियो की-सी चित्राकना किसी भी भाषा के काव्य को गौरव प्रदान कर सकती है। परन्तु जिस परम्परा के अन्तर्गत इस काव्य की रचना हुई है, यह उसकी एक विशेषता है। सौन्दर्यानुभूति के अतिरिक्त उस परम्परा की जो बडी विशेषता रही है, वह है लोक-कल्याण की भावना। यह भावना सिद्ध-साहित्य और वीर-काव्य से होती हुई इस काल तक आई थी। वस्तुत लोक श्रेय की भावना को लेकर ही भाषा-काव्य का उदय हुआ था, और लोकहित के साथ कवि-वाणी का अनिवार्य सम्बन्ध चला आ रहा था। विद्यापति और सूर के काव्य मे यह पक्ष विकसित नही हुआ है। अत परम्परा के अन्तर्गत अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी इनका कृतित्व उस परम्परा का पूरा प्रतिनिधित्व नही करता।

इसके विपरीत कबीर के काव्य मे लोक-पक्ष की स्थापना है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि लोक-कल्याण के आग्रह ने ही उनकी वाणी मे इतनी ऊर्जस्विता ला दी है। कबीर की आध्यात्मिक

स्वीकृति के मूल मे भी लोक-कल्याण की भावना काम करती है। वैयक्तिक उपलब्धि का आग्रह उन्हें नहीं था। आसपास के जीवन की विडम्बनाओं ने ही उनकी वाणी मे कटुता और तीव्रता ला दी थी। कबीर के काव्य का स्वीकृति-पक्ष, अर्थात् प्रेम-पक्ष बहुत सबल है, परन्तु उनके काव्य का वह अश अधिक हृदयग्राही बन पाया है, जहा उन्होंने एक समाजचेता के रूप मे सामाजिक विसगतियो की भर्त्सना की है। समाज के नये रूप-विधान के सम्बन्ध मे तुलसी और कबीर की दृष्टि मे मौलिक अन्तर रहा है, यहा तक कि कई स्थलो पर वे एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु दृष्टि का भेद होते हुए भी दोनो एक ही चेतना से अनुप्राणित थे। परन्तु तुलसी ने जैसे सौन्दर्यानुभूति को बनाए रखते हुए इस चेतना को आत्मसात् किया, वैसे कबीर नही कर पाए। सभवत इसका कारण यह था कि तुलसी विधिवत् काव्य-परम्परा मे दीक्षित हुए थे, जब कि कबीर ने अपने को दीक्षा स्वय ही दी। इसलिए उन्होंने परम्परागत काव्य-मूल्यों को महत्त्व नही दिया, और आवश्यकता के अनुसार शब्द और छन्द की मर्यादाओ का भी तिरस्कार कर दिया। कबीर के लिए उनके प्रतिपाद्य का ही महत्त्व था, किस विधि से प्रतिपादन होता है, इसका नही। अभिव्यक्ति के प्रति उदासीनता से जहा उनकी रचना मे सहजता और शक्ति आ गई, वहा बहुत जगह उससे सौन्दर्य-पक्ष की क्षति भी हुई। कई जगह उन्होंने ऐसे बिम्बो का विधान किया है, जो सौन्दर्य-दृष्टि को ठेस पहुचाते हैं।

इस तरह कबीर के काव्य में वह सन्तुलन स्थापित नही हो पाया, जो तुलसी के काव्य मे है। कबीर की योगमार्गी साधना-पद्धति की स्वीकृति का भी उनके काव्य के सौंदर्य-पक्ष पर प्रभाव पड़ा है। इसने कई जगह उनके काव्य को व्याख्यात्मक बनाकर उसकी रसात्मकता को अवरुद्ध कर दिया है। कबीर के काव्य मे, और उनके अतिरिक्त सूर के काव्य मे भी, बहुत से ऐसे अश हैं, जिसमे केवल पारिभाषिक शब्दों या नामावलियो का सकलन मात्र किया गया है। काव्य की दृष्टि से उनका

कोई महत्त्व नही है। इस तरह के अशो को निकाल देने से उनके काव्य का विस्तार बहुत सीमित रह जाता है, और उसके अन्तर्गत भी बहुत पुनरावृत्ति है। इसके विपरीत तुलसी के काव्य मे विविध वर्णनो, व्याख्यानो तथा कथा-प्रसगो के बीच भी भावना का अखड प्रवाह बना रहा है। उनके काव्य मे कवित्व के साथ-साथ उनके पाण्डित्य, दार्शनिक चिन्तन और व्यवस्था-विधान का ऐसा मेल है कि कही रसास्वादन मे बाधा नही पडती। यह नही कि तुलसी का काव्य नामावलियो के सकलन या पुनरावृत्ति के दोष से सर्वथा मुक्त है। परन्तु तुलसी के काव्य के विस्तार को देखते हुए, ऐसे स्थल बहुत थोडे है और इसलिए नगण्य प्रतीत होते हैं। मानस जैसे महाकाव्य के अन्तर्गत तो उनसे वैसे भी प्रभाव मे बाधा नही पडती, क्योकि महाकाव्य का शिल्प ही उनके लिए अवकाश प्रस्तुत कर देता है।

इस तरह अन्य कवियो की रचनाओ मे जहा उस विशिष्ट काव्य-परपरा का आशिक विकास दृष्टिगत होता है, तुलसी के काव्य मे उसकी सर्वांगीण समृद्धि का परिचय पाया जा सकता है। जहा अन्य कवियो की रचनाए सामूहिक रूप से उस परम्परा की चरम उपलब्धियो का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहा तुलसी का काव्य उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से अपने मे पूर्ण है। यही नही, यदि तुलसी के मानस की रचना न हुई होती, और कृष्ण-भक्ति-काव्य की रीति-काव्य मे यही स्वाभाविक परिणति होती, तो प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र मे एक बहुत बडा अभाव बना रहता। पदमावत मे कथा-निर्वाह की विशेषता अवश्य है, परन्तु उसमें मानस जैसी व्यापक दृष्टि और जीवन की सूझ-बूझ नही है। पदमावत प्रेम-काव्य है, और प्रेम जीवन का एक पक्ष है। जायसी ने प्रेम और युद्ध के प्रसगो मे बहुत विस्तृत और सजीव वर्णन दिए हैं और इन दो परिस्थितियो मे रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, गोरा और बादल आदि पात्रो की मनोदशाओ का भी सफलतापूर्वक चित्रण किया है। परन्तु मानस केवल रघुनाथ-गाथा ही नहीं, सारे मानव जीवन का काव्य भी

है। उसके अन्तर्गत जीवन के प्राय सभी पक्ष आ गए हैं—प्रेम, धर्म, अर्थ-व्यवस्था, राजनीति, लोकनीति, समाज-विधान, शिक्षा और कला आदि। इसके अतिरिक्त जितनी तरह के मानव-सम्बन्धो की कल्पना हो सकती है, उन सब पर मानस में प्रकाश डाला गया है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य और राजा-प्रजा आदि के सम्बन्धो का विशद विश्लेषण, और इन सबधो के अन्तर्गत सभी तरह की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियो का चित्रण मानस मे मिलता है। इसके अतिरिक्त मित्रता और शत्रुता के प्रसगो मे मानसिक अन्तर्धाराओ, और नीति और अनीति के सघर्ष मे कई तरह की अन्तर्दशाओ का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। इस तरह मानस एक महाकाव्य ही नही, एक समय का इतिहास, एक जीवन की पूरी व्यवस्था, और एक काव्य परम्परा की पूर्णाभिव्यक्ति भी है। मानस के बिना उस परम्परा की उपलब्धियो का कैन्वस पूरा नही होता। भक्तिकाल के अन्य कवि, विशेषतया सूर और कबीर, मानसकार के कुछ अभावो की पूर्ति अवश्य करते हैं—सूर चित्राकन और भाव-विधान मे और कबीर जीवन के प्रगतिशील रूप को समझने मे, और इस दृष्टि से इस परम्परा के गौरव को प्रतिष्ठित करने मे उनकी देन बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु व्यापक सन्दर्भ मे देखते हुए, और काव्य के सामूहिक प्रभाव को दृष्टि मे रखते हुए, ऐतिहासिक पार्श्व मे तुलसी की देन, निःसदेह, सबसे महत्त्वपूर्ण है।

इसके अनन्तर परवर्ती काव्य-परम्परा के परिपार्श्व मे इस काव्य के आपेक्षिक मूल्य का प्रश्न सामने आता है। भारतेन्दु से इस नई परम्परा का आरम्भ होता है, जिसने बहुत शीघ्रता से अपने को नये-नये सांचो मे ढाला है, और वस्तु तथा शिल्प, दोनो क्षेत्रो मे नये आयामो के स्पर्श के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही है। इस परम्परा मे आकर काव्यधारा ने अपने को पहले की काव्य-रूढ़ियो से धीरे-धीरे लगभग सर्वथा मुक्त कर लिया। भारतेन्दु जैसे इन दो परम्पराओ के दोराहे पर खड़े हैं। वे अपने से पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा की रूढ़ियो का अनुसरण करते हुए काव्य में

वस्तु-क्षेत्र को सामान्य जीवन के साथ जोडने की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने अपने काव्य मे तात्कालिक जीवन की समस्याओ का चित्रण करके भविष्य के लिए नई दिशा म पहले पग चिह्न बना दिए। रूढि से प्रभाव ग्रहण करने मे भी उन्होने रीतिकाल की दरबारी प्रवृत्ति का तिरस्कार कर, सीधे भक्त कवियो से ही प्रेरणा प्राप्त की। अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी उनपर भक्तिकालीन रूढिया का ही अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने एक ओर तुलसी की लोकमगल की भावना को फिर से काव्य मे प्रतिष्ठित किया, और दूसरी ओर असाधारण के मोह से मुक्त होकर काव्य को साधारण की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। विश्व साहित्य मे साधारण जीवन की अवतारणा बहुत पहले से होने लगी थी और यथार्थ चित्रण की परम्परा उस समय तक बहुत विकास कर चुकी थी। भारतेन्दु और उनके सहयोगियो ने साधारण के प्रति आन्तरिक आग्रह का परिचय तो दिया, परन्तु निश्चित परम्परा न होने के कारण उनकी रचनाओ मे उस काल के यथार्थ का सही प्रतिनिधित्व नही हुआ। स्फुट रूप से की गई कुछ भावाभिव्यक्तिया ही उस काल की यथार्थ चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। उस आरम्भिक काल मे इससे अधिक की आशा भी नही की जा सकती थी। उस काल की रचनाओ मे साधारण के प्रति सवेदनशीलता तो है, पर कोई ऐसी आन्तरिक भावना नही जो काव्य की प्राणशक्ति बन जाती है। द्विवेदी-काल मे सुधारवादी आन्दोलनो के परिणाम स्वरूप उपदेशात्मकता के बढ जाने से इस परम्परा की भाव-वस्तु और शिल्पगत विशेषताओ का विकास नही हो पाया। काव्य-माध्यम के रूप मे खडी बोली का स्वरूप अभी बना नही था, इसलिए भाषा की दुर्बलता भी इस काल के काव्य की एक परिसीमा रही।

छायावाद काल म आकर एक ओर भाषा का निखार हुआ और दूसरी ओर काव्य को कवियो की आन्तरिक अनुभूति का स्पर्श भी प्राप्त हुआ। अभिव्यक्ति के क्षेत्र म नये-नये प्रयोग किए गए। परन्तु काव्य मे साधारण जन जीवन की व्याप्ति की आशा जो पहले से होने लगी थी,

वह इस काल मे पूरी नही हुई। छायावादी कवियो को साधारण का मोह तो रहा, परन्तु मानव और उसके सघर्षशील जीवन से हटकर उनकी प्रवृत्ति मानव को प्राकृतिक परिपार्श्व में देखने की ओर हुई। इससे साधारण की वासना का रूप इस तरह से बदला कि मानव गौण हो गया, प्रकृति मुख्य, और प्रकृति में मानवीय चेतना का आरोप कर विशद सवेदना का परिचय दिया जाने लगा। इन कवियो के हृदय मे साधारण के प्रति वासना थी, परन्तु साधारण जन-जीवन के साथ इनका वैसा सम्पर्क नही था, जो इनकी रचनाओ मे उसकी अवतारणा की भूमि प्रस्तुत कर सकता। जन-जीवन के स्पन्दनो का अनुभव और अकन करने के लिए नैसर्गिक प्रतिभा और सवेदनशील हृदय ही ही नही, क्रियात्मक रूप से एक विशेष तरह का जीवन जीने की भी आवश्यकता होती है। जीवन के उन स्पन्दनो के अभाव को प्रकृति के रगो, रूपो और ध्वनियो के अकन से पूरा करने का प्रयत्न किया गया। इसे साधारण जीवन से पलायन की प्रवृत्ति न कहकर अपने कवि-कर्तव्य से पलायन की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इन कवियो की निजता शब्दो और छदो के प्रयोगो मे और नये-नये बिम्ब-विधान के आग्रह मे ही अधिकत व्यक्त हुई। जहा भावना तीव्र हो और अनुभव क्षेत्र समिति हो, वहा काव्य मे प्राय इस तरह की प्रयोगशीलता का आग्रह बढने लगता है।

प्रसाद की कामायनी इस काल की प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है, क्योकि उपाख्यानाश्रित होते हुए भी वह साधारण मानव का ही काव्य है। कामायनी का स्वर मानव-कल्याण का स्वर होते हुए भी जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से उभरा हुआ स्वर नही है। प्रसाद के पास जैसी नैसर्गिक प्रतिभा थी, और जैसा विशद उनका अध्ययन था, उसके साथ यदि जीवन के व्यापक सम्पर्क से सजोए गए अनुभवो की पूजी भी होती, तो वे सचमुच अपने समय के मानस की रचना कर जाते, जिसका सापेक्षिक महत्त्व सभवत मानस से अधिक होता। परन्तु कामायनी इस काव्य-परम्परा की सफलतम रचना होते हुए भी, युग की सामूहिक चेतना का

प्रतिनिधित्व नही करती, न ही उसमे मानस जैसी व्यापकता आ पाई है, और न ही उसमे साधारण मानव की सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियो का चित्रण हुआ है। इस दिशा मे जो उपलब्धि काव्य मे नही हो सकी, वह आशिक रूप से गद्य मे सभव हो पाई है।

परवर्ती प्रगतिवादी काव्यधारा के अन्तर्गत साधारण जीवन के व्यापक द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने के कुछ प्रयत्न हुए, परन्तु इनमे से अधिकाश प्रयत्न लेखको के बौद्धिक आग्रह को ही व्यक्त करते है। इनमे साधारण जीवन के प्रति इन कवियो के निजी भावाग्रह का स्पर्श बहुत कम प्रतीत होता है। इसके साथ ही प्रगतिवादी काव्यधारा मे बहुत अभिधेयात्मकता आ गई, छायावादी काव्य के अन्तर्गत जिस लाक्षणिकता और व्यजनात्मकता का विकास हुआ था, उसे बनाए रखना सम्भव नही हुआ, और अभिव्यक्ति छायावादी काव्यधारा के मानदण्डो के अनुकूल नही बनी रह सकी। अत इस धारा के अन्तर्गत किसी कवि या कृति को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नही हो सकी। जो उसे एक सीमा-चिह्न बना दे। आज की प्रयोगशील या नई कविता मे आन्तरिकता और क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूतियो की सच्ची अभिव्यक्ति का आग्रह बल पकड रहा है, परन्तु इस धारा की अतिशय साकेतिकता और व्यक्तिनिष्ठता बहुत शीघ्र इसे जीवन के सामूहिक परिस्पन्दन से दूर हटाए दे रही है, और सन्देह है कि इसमे समय की सामूहिक चेतना का सही प्रतिनिधित्व हो पाएगा।

तुलसी का काव्य एक परम्परा के चरम विकास का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु आज की काव्यधारा आरम्भ से अब तक प्रयोगो की एक शृखला है, जिसे अभी एक चरम उपलब्धि तक पहुचना है। तुलसी के काव्य की रचना भी कई सौ वर्षों मे हुए प्रयोगो की एक लम्बी शृखला के बाद सम्भव हुई। मूलत रचना मे व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति होती है, और किसी महान् कृति की रचना के लिए यह अपेक्षित है कि रचयिता का आचरण, उसकी भावना और उसका चिन्तन तीनों समन्वित हो। तुलसी मे यह समन्वय है और उनकी रचना मे इस समन्वित व्यक्तित्व का सर्वत्र

परिचय मिल जाता है। तुलसी की एक-एक पंक्ति उनके मानसिक और भावात्मक रूप की ही अभिव्यक्ति है। उनके द्वारा किए गए अपने समय के मूल्यांकन या सामाजिक आदर्शों के विधान से हम सहमत न हों, यह अलग बात है, परन्तु उनके काव्य मे व्यक्तित्व और कृतित्व की एकात्मकता स्पष्ट प्रतीत होती है। तुलसी की कामना अकामना, उनका सतोष-असतोष ज्यो का त्यो उनके काव्य मे प्रतिफलित है। इसके विपरीत आज के काव्य मे अभी तक कही ऐसे समन्वित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही हुई है। अत यह कहा जा सकता है कि तुलसी का काव्य एक परम्परा के चरम विकास का प्रतिनिधित्व ही नही करता, भावना, चिन्तन और वैयक्तिक आचरण के समन्वय से विनिर्मित कवि-व्यक्तित्व की समर्थ अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक के हिन्दी काव्य मे यह सर्वाग्रणी भी है।

○ ○ ○